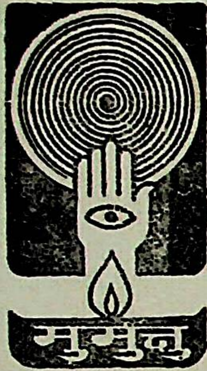
जून '८७

मुमुक्षु





आध्यात्मिक

तथा

सांस्कृतिक

मासिक

वर्ष ६ : अंक ९
ज्येष्ठ सं० २०४४
जून १९८७

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी
२२१००५

वार्षिक : बीस रुपये
एक अंक : १.७५
आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से मुमुक्षु अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

मुमुक्षु के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम वर्ष की सजिल्द फाइलें पूरे कपड़े की जिल्द लगाकर बँधवाई गयी हैं। डाकव्यय सहित एक वर्ष की फाइल का मूल्य तीस रुपये है। अग्रिम भेजकर मँगायें।

व्यवस्थापक : मुमुक्षु, काशी मुमुक्षु भवन सभा,
अस्सी, वाराणसी–२२१००५

मुमुक्षु

वर्ष : ६] जून १९८७ [अंक : ९

ब्राह्मणत्व के दर्शन

श्री रतनलाल जोशी

उस दिन श्रीरंगम् की वीथियों में दूर-दूर के ग्राम-नगरों की जनता भगवान् रंगनाथ के गरुडोत्सव के दर्शन के लिए उमड़ पड़ी थी। भक्त-जनों से भरी नगर-वीथियों पर भक्त-शिरोमणि आचार्य रामानुज, भगवान् रंगनाथ की शोभा-यात्रा का नेतृत्व कर रहे थे। जहाँ भी रथ पहुँचता, भक्ति-विह्वल जनता प्रणाम-मुद्रा में झुक जाती और भगवान् को नैवेद्य अर्पित कर, आचार्यश्री की चरणरज लेती और धन्यता का अनुभव करती।

चलते-चलते रथ एक बड़े चौराहे पर थोड़ी देर के लिए रुका। भगवान् की आरती को जा रही थी। श्रद्धालुओं में भक्तिभाव के प्रदर्शन में प्रतिस्पर्धा-सी हो रही थी। आचार्यश्री की दृष्टि एक युवक पर पड़ी तारुण्य का धाम-सा आजानु-बाहु शरीर, व्यायाम से परिपुष्ट मसृण मांसपेशियाँ, साँवली परन्तु आकर्षक देह-कान्ति। युवक के हाथ में एक विशाल श्वेत छत्र था। उसे वह किसी व्यक्ति पर ताने इस प्रकार अनन्य-भाव से चला जा रहा था, मानो किसी महानिधि की चोरों की लालच-भरी दृष्टि से बचाने में निरत हो। छत्र से आवृत्त व्यक्ति के नूपुर-युक्त चरण बतला रहे थे कि वह कोई महिला है। जन-समूह को पार करता हुआ, जग-हँसाई की उपेक्षा करता हुआ, वह युवक इस प्रकार चला जा रहा था कि उसे किसी की उपस्थिति का भान ही न हो। क्षण-भर के लिए भी उसकी दृष्टि उस नारी के आलक्तक-सिक्त चरणों पर से न हटी—भगवान् के रथ की ओर भी नहीं उठी।

युवक के इस अनन्य मनोयोग ने आचार्य रामानुज के कौतूहल को जगा दिया। पास खड़े शिष्य को उन्होंने उस युवक को बुला लाने का आदेश दिया। शिष्य चला गया, पर कुछ देर बाद अकेला ही लौटा और बोला—'भगवन्, वह युवक अभी बहुत व्यस्त है, क्षमा चाहता है। कहता है कि आज्ञा हो तो कल प्रातःकाल आपकी सेवा में उपस्थित हो जाएगा।" आचार्य बोले—"तथास्तु।"

अगले दिन प्रातःकाल आचार्य रामानुज जब प्रातर्विधियाँ पूर्ण कर, शिष्यों को 'श्रीभाष्य' पढ़ा रहे थे, वह युवक आया और दूर से साष्टांग प्रणाम कर, श्रद्धावनत खड़ा हो गया। उसकी भाव-भंगिमा से सुशीलता और संस्कारिता झलक रही थी।

आचार्यश्री ने ही बात आरम्भ की—'क्या नाम है तुम्हारा, वत्स ?"

"सेवक को धनुर्दास कहते हैं, भगवन्।"

"तुम कौन हो और क्या करते हो ?"

"एक शूद्र हूँ, पेशे से पहलवान।"

"कल गरुडोत्सव के समय कहाँ चले जा रहे थे तुम ?"

"क्या कल रथोत्सव था, स्वामिन् ? मुझे तो पता ही नहीं था !"

"अच्छा, कोई बात नहीं। पर यह बताओ, कल शाम को तुम किसके पीछे छाता ताने जा रहे थे ?"

युवक लजा-सा गया। बहुत पूछने पर उसने बताया कि वह उसकी प्रेयसी और निचुला-नगर की सबसे सुन्दर

वारवधू हेमाम्बा है। उसने यह भी बताया कि हेमाम्बा पर वह अत्यन्त आसक्त है और दिन-रात उसी की चिन्ता में खोया रहता है।

"अच्छा वत्स, यह बताओ कि हेमाम्बा की कौन-सी बात पर तुम इतने मुग्ध हो ?" आचार्यश्री ने पूछा। संकोच से दबी हुई ध्वनि में उत्तर मिला—"उसकी अत्यन्त सुन्दर आँखों पर।"

"यदि मैं उससे भी सुन्दर नेत्र तुम्हें दिखा दूँ, तो....?"

"स्वामिन् उससे अधिक सुन्दर नेत्र संसार में सम्भव नहीं"—धनुर्दास का दृढ़ उत्तर था।

"तो आज सन्ध्या की आरती के समय मेरे साथ मन्दिर चलना"—आचार्यश्री ने आदेश दिया और धनुर्दास "जैसी आज्ञा" कहकर चला गया।

सायंकाल पूजा के समय भगवान् रंगनाथ के मन्दिर में गर्भगृह के सम्मुख धनुर्दास आचार्य रामानुज के पार्श्व में हाथ जोड़े खड़ा था। पूजा के अन्त में आरती आरम्भ हुई। जब प्रज्वलित कर्पूर की देदीप्यमान शिखा भगवान् रंगनाथ के दिव्य विग्रह की आँखों में प्रतिबिम्बित हुई, वे रत्नों की तरह चमक उठीं। धनुर्दास उन्हें देखकर ठगा-सा खड़ा रह गया। फिर आचार्यश्री के चरणों में यह कहता हुआ गिर पड़ा—"प्रभो, आपने मेरी आँखें खोल दीं। मैं तो अब तक जुगनू पर ही मुग्ध था; आज आपने मुझे सूर्य के दर्शन करा दिये।"

धनुर्दास को ज्ञानोदय हो गया। हेमाम्बा ने घटना सुनी, तो उसकी संस्कारशाली आत्मा आनन्द से भर गयी। वेश्या होते हुए भी वह धनुर्दास को अपना पति मानती थी। वह भी उसके साथ आचार्यदेव की शिष्या बन गयी। दोनों श्रीरंगम में बस गये और आचार्यदेव के आदेश से विवाह-सूत्र में बँधकर सात्विकजीवन बिताने लगे। उनका आध्यात्मिक जीवन नित्य अधिकाधिक समृद्ध और पवित्र होता गया। होते-होते वे दोनों आचार्य रामानुज के अत्यन्त स्नेह-भाजन बन गये।

श्री रामानुज का यह दैनिक क्रम था कि प्रतिदिन शिष्यों को पढ़ाने के पश्चात् मध्याह्न के भोजन से पूर्व, वे कावेरी के पुनीत जल में स्नान करते और वहाँ से मन्दिर में जाकर, अपने हाथ से भगवान् रंगनाथ की पूजा करते। वृद्धावस्था के कारण चलते समय आचार्यश्री को किसी के सहारे की आवश्यकता रहती थी। मठ से नदी की ओर जाते हुए, वे प्रायः किसी ब्राह्मण शिष्य का हाथ पकड़कर चलते, परन्तु स्नान के पश्चात् कावेरी के घाट से मन्दिर तक जाते समय, वे हीन कुलोत्पन्न धनुर्दास के अतिरिक्त किसी का सहारा स्वीकार न करते।

सारा श्रीरंगम् नगर आचार्य के इस व्यवहार को चकित दृष्टि से देखता था। धीरे-धीरे ब्राह्मणों में और उच्चवर्णीय शिष्य-वर्ग में भी इसकी चर्चा होने लगी। अन्त में एक दिन कुलीनता के अभिमानी और अपरिपक्व प्रज्ञावाले कई युवक शिष्यों ने आचार्यश्री से निवेदन कर ही तो दिया—"भगवन्, आप स्नान के पश्चात् शूद्र को स्पर्श कर मन्दिर में जाते हैं। यह कुछ उचित नहीं दीखता।"

आचार्य मुस्कराये, पर कुछ बोले नहीं। उसी दिन रात को जब मठ के सब लोग सो रहे थे, आचार्य रामानुज धीरे से उठे और उन्होंने प्रत्येक मठ-निवासी की धोती में से एक-एक कोपीन के लायक कपड़ा फाड़कर रख लिया।

अगले दिन प्रातःकाल मठ में बड़ी उथल-पुथल मच गयी। सब शिष्य आपस में लड़ रहे थे कि "तुमने धोतियाँ फाड़ी हैं, तुमने धोतियाँ फाड़ी हैं।" अन्त में विवाद आचार्यश्री तक पहुँचाया गया। वे फिर मुस्करा दिये और कुछ नहीं बोले।

शाम को उन्होंने ब्राह्मणत्व का अभिमान करने वाले शिष्यों में से कुछ को बुलाया और कहा—"आज रात को जब हम धनुर्दास के साथ बात कर रहे हों, उसके घर जाकर हेमाम्बा के सब गहने चुरा लाओ।" शिष्य चकित हो गये, परन्तु गुरु-आदेश तो सर्वथा पालनीय होता है—आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।

इधर धनुर्दास आचार्यश्री के वचनामृत का रसपान करने में निमग्न था कि उस ओर तीन-चार शिष्य उसके घर चोरी करने पहुँचे। उन्होंने देखा कि हेमाम्बा सोयी हुई है। उन्होंने जल्दी-जल्दी उसके शरीर पर से रत्नाभूषण उतारने आरम्भ किये। एक पार्श्व के गहने उतार पाये थे कि हेमाम्बा ने करवट बदली। नींद खुल गयी होगी, यह समझकर शिष्य हाथ-लगे गहने लिये मठ को लौट गये।

वे भीतर प्रविष्ट हुए ही थे कि आचार्यश्री की ध्वनि सुनायी पड़ी—'अच्छा धनुर्दास बहुत रात हो गयी। अब घर जाओ।' उसके जाते ही शिष्यों ने गहने श्री चरणों में रख दिये, तो आचार्यश्री का आदेश मिला—'अब जाकर देखो कि धनुर्दास के घर क्या होता है।' वे पीछे-पीछे फिर उसके घर पहुँचे।

घर में दीपक जल रहा था। हेमाम्बा बिस्तर पर दीवार के सहारे बैठी थी। उस पर दृष्टि पड़ते ही धनुर्दास बोल उठा—'यह क्या वेश बना रखा है? शरीर के एक भाग में गहने हैं, दूसरे में नहीं। इस श्रृंगार का क्या अर्थ?'

'इसका अर्थ है मेरा दुर्भाग्य', हेमाम्बा खिन्न स्वर में बोली—'जब तुम मठ में आचार्यश्री के चरणों में बैठे थे, मैं लेटी-लेटी कुछ सोच रही थी। इतने में घर में कुछ चोर घुस आये। मैंने देखा—वे ब्राह्मण थे। बहुत दुर्दशा में होंगे, तभी तो ब्राह्मण होकर भी चोरी कर रहे हैं, उनकी कुछ सहायता करनी चाहिए—यह सोचकर मैंने सोने का अभिनय किया। चोरों ने एक तरफ के सब गहने उतार लिये, तो मेरे मन में आया कि दूसरी ओर के भी दे दूँ, इस विचार से मैं करवट बदलने लगी। पर मैं जग गयी हूँ, यह सोचकर चोर भाग गये। मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उन ब्राह्मणों को शेष गहने देने से वंचित रह गयी।'

धनुर्दास ने लम्बी सांस ली और कहा—'यह तुम्हारा दुर्भाग्य तो है ही, साथ ही अज्ञान भी है। आचार्यश्री के उपदेश सुनने के बाद भी तुम यही समझती रही कि ये गहने मेरे हैं, मैं इन्हें ब्राह्मणों को दूँगी, उनका उपकार करूँगी। अरे, यह सारी सम्पदा तो भगवान् की है। तुम हो ही कौन, जो इसे किसी को दो और किसी पर उपकार करो? यह छोटी-सी बात तुम्हारी समझ में आ गयी होती, तो तुम चुपचाप वैसी ही पड़ी रहती और चोर जो-कुछ चाहते, ले जाते। परन्तु अब शोक करने से क्या होता है? धीरज धरो। यदि भगवान् चाहें, तो उनके ये शेष गहने और किसी के काम आयेंगे।'

शिष्यों के लिए इससे आगे वहाँ ठहरना असम्भव हो गया। मठ में आकर सारा वृत्तान्त उन्होंने आचार्यश्री को निवेदित किया।

आचार्य रामानुज अर्थभरी रीति से मुस्कराये और बोले—'सुपुत्रों! अब तुम्हीं बताओ कि भगवान् के मन्दिर में जाते समय मैं किसका सहारा लूं—अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर देने वाले इस परम वैष्णव धनुर्दास का, अथवा तुम कुलाभिमानी ब्राह्मणों का, जो अभी तक चार अंगुल कपड़े के मोह से ऊपर नहीं उठ सके? बताओ सच्चा ब्राह्मणत्व तुममें है या धनुर्दास में?'

लज्जा से शिष्यों के सिर झुक गये।

●

'समानता'

हजरत अबूबक्र सिद्दीकी को मदीना का खलीफा तो बना दिया गया किन्तु चूँकि इसके पूर्व खलीफा का वेतन निश्चित नहीं था अतः उनको दिया जाने वाला वेतन काफी विचार-विमर्श के बाद भी तय नहीं हो सका तब सर्वसम्मति से यह तय किया गया कि स्वयं खलीफा से ही निर्णय करने की प्रार्थना की जाए। खलीफा के सामने जब सारा मामला पेश हुआ तो उन्होंने कहा कि मदीना में एक मजदूर को जितना वेतन मिलता है वे भी उतना ही वेतन लेंगे। लोगों को इस पर आश्चर्य हुआ कि इतने कम वेतन में उनका गुजर-बसर कैसे होगा? खलीफा ने जब इसे सुना तो सहज भाव से बोल उठे, "जब हमारे यहाँ मजदूर इतने कम वेतन में काम चला लेता है तो मैं क्यों नहीं चला सकता?" लोग उनकी बात पर निरुत्तर हो गए और खलीफा ने उतना ही वेतन स्वीकार किया जितना कि वहाँ के मजदूर को मिलता था।

●

नाम-जप

गुरुमाई चिद्विलासानन्द

•

वस्तुस्थिति में हम सब एक ही परब्रह्म से निर्मित हैं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। यह बात दूसरी है कि कोई गरीब है और कोई श्रीमान्। क्या ले जाता है इस दुनिया से? शरीर के मर जाने के उपरान्त हम क्या ले जायेंगे यहाँ से? किन्तु इस दुनिया को दिखाने के लिये हम आडम्बर करते हैं। अरे सोचो! यहाँ से जाने के उपरान्त उन्हें कौन देखेगा? इस धरती पर कैसे-कैसे राजा हुए, अन्य श्रीमान् हुए और उन्होंने जो कुछ बनाया, निर्माण कराया, क्या उसे पुनः देखने वे आ पाये?

जीवन की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि हम भगवान् का नाम जपें। क्योंकि हे प्राणी! तू अपने को यमराज रूपी सिंह के मुँह के सामने पड़ा हुआ समझ। वह न जाने कब तुझे अपना ग्रास बना ले इसका कोई भरोसा नहीं? अतः विषय वासनाओं और सांसारिक तृष्णाओं का परित्याग कर उस ईश्वर के गुण गा। उसका नाम स्मरण कर।

किसी को यह नहीं समझना चाहिये कि हमें यह मनुष्य-जीवन मुफ्त में मिला है। यह मानवी देह तो हमारे पूर्व जन्म के संचित शुभ कर्मों का पुण्य प्रसाद है; अतः यह बड़ी मूल्यवान है। मनुष्य के रूप में जन्म मिलना निश्चय ही बड़े महत्त्व की बात है; क्योंकि करुणामय ने मनुष्य को विवेक दिया है और उसके सहारे साधनारत होकर हम अपने-आपको जान सकते हैं। अतः शरीर को कुछ भी होता रहे हमें उस परमात्मा में श्रद्धा रखकर उसे ध्यान देना है। नामदेव का एक अभङ्ग मुझे बहुत पसन्द है जो इस प्रकार है:

जेजे घडेल ते ते घडो,
देह राहो अथवा पडो।
परि मीना सोडी सर्वथा,
तुझे पाये पंढरीनाथा॥
क्लेश होता नाना परी,
मुखी रामकृष्ण हरी।
नामा म्हणें केशवाते,
जे जे घडेल या देहाचे॥

अतः जैसा होता है, उसे होने दो। शरीर रहे या न रहे, लेकिन हे नाथ! जो होना है उसे होने दो। मुझे आजन्म यह शक्ति दो कि मैं आपके चरणों का ध्यान न छोड़ूँ। इतनी कृपा अवश्य करो कि चाहे जितने कष्ट और यातनाएँ आयें, मैं आपके चरणों को न भूलूँ। संत नामदेव यही प्रार्थना करते हैं कि वह भगवान् के चरण कभी न छोड़ें और हर हालत में यम यातना होने पर भी मुख से रामकृष्ण हरि का सतत उच्चारण होता रहे।

हमारे जीवन में जो भी घटित होता है वह हमारे कर्मों के तथा दृष्टि के परिणाम स्वरूप होता है। कभी-कभी हम सोचने लगते हैं कि हम तो बड़ा सात्त्विक और पवित्र जीवन जी रहे हैं फिर ये चोटें और पीड़ायें क्यों? किन्तु पूर्व जन्म में हमने क्या-क्या किया है और उसके परिणाम में उस कर्म का शुभ-अशुभ कितना भोगा है, यह कौन जान सकता है? हमारा ऐसा स्वभाव हो गया है कि हम प्रत्येक अहित के लिए भगवान् को कोसने लगते हैं; किन्तु अपने दुष्कर्मों को कोसें, इस पर ध्यान नहीं।

शास्त्रों में इसके लिए कहा गया है—"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभा शुभम्" अतः किसी भी अप्रिय या अशुभ के लिए भगवान को नहीं कोसना चाहिये और न ही उनके प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति पर आँच आने देना चाहिये; अपितु हर संकट के समय ईश्वर के प्रति अधिक श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिये; क्योंकि वे ही एक मात्र रक्षक हैं। ईश्वर जो भी दे दें (सुख और दुःख) उसे सिर झुकाकर स्वीकार करना चाहिये। एक सन्त कहता है: जिस ईश्वर से चाहकर,

याचनाकर, सुख चाहा और प्राप्त किया, यदि उन्होंने कभी (कर्मानुसार) दुःख दे भी दिया तो "हाय दैया—हाय दैया" क्यों करता है ? उन्होंने जो भी दे दिया है उसे सिर झुकाकर स्वीकार कर।

वे करुणामय जो भी करते हैं, वह सब अच्छा ही होता है। वे तो सतत् अच्छा ही करते रहते हैं। यह अच्छाई उन्हीं को दिखायी देती है जो उस करुणामय में विश्वास रखते हैं। यहाँ भारत में लोग सोचते हैं, हम गरीब हैं; इसलिए हमारी तरफ कोई देखता नहीं। संत लोग भी ध्यान नहीं देते। अरे भाई ! ऐसा नहीं है। हम भी भारत के ही हैं, जो कुछ हुआ है और हो रहा है, वह गुरु-कृपा से ही हो रहा है। सब कुछ उनकी कमाई है, हम और हमारा कुछ भी नहीं है। दो रोटी खाने को मिल जाती है और वस्त्र पहनने को। यह सब भी उन्हीं की कृपा है। यदि कुछ है भी तो उसके प्रति आसक्ति का भाव नहीं है। यदि आपके पास भी कुछ धन, मान, सम्मान है तो उससे आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

एक आदमी था जो बड़ा गरीब था। उसे संयोग से एक अमीर के यहाँ एकाउन्टेन्ट की नौकरी मिल गयी। उसने अपने कार्य एवं व्यवहार से अपने स्वामी को बड़ा सन्तुष्ट कर लिया। वह अमीर उसे अपने अधिक नजदीक रखने लगा और अपने कार्य व्यवसाय में उससे परामर्श लेने लगा। उस नये आये आदमी को सेठ के इतना नजदीक देखकर पुराने कर्मचारियों को ईर्ष्या होने लगी।

ईर्ष्या का खेल बड़ा अजीब होता है। वे पुराने कर्मचारी सोचने लगे कि इस नये आदमी की टाँग कहाँ से पकड़कर इसे पीछे धकेलना चाहिये। कैसे मालिक के हृदय में इसके प्रति अविश्वास पैदा किया जाये। वे किसी अवसर की तलाश में रहने लगे। उन पुराने कारिन्दों ने देखा कि वह नया कर्मचारी सुबह-सुबह एक कमरे में जाता है और उसकी साँकल अन्दर से बन्द कर लेता है तथा करीब आठ-दस मिनट न जाने क्या करता रहता है ! उन्हें उस पर सन्देह हुआ कि यह प्रतिदिन कुछ रुपया चुराकर इसमें रखता है और उसकी इस गतिविधि की शिकायत सेठ से कर दी।

दूसरे दिन सेठ उस कर्मचारी का परीक्षण करने अपने दो आदमियों को साथ लेकर उस कमरे पर कुछ दूर से निगाह रखने लगा। सेठ ने देखा कि एकाउन्टेन्ट महोदय कमरे में घुसा है और अन्दर से साँकल भी लगा ली है। उन्होंने जाकर उस कमरे का किवाड़ खटखटाया और अन्दर से कुन्डो खोलने का आदेश दिया। एकाउन्टेन्ट अपने स्वामी को वहाँ देख कुछ हड़बड़ा गया और एक कोने में खड़ा हो गया। सेठ ने देखा कि उस कमरे में एक सन्दूक के अलावा दूसरा कोई सामान नहीं है। सन्दूक में ताला लगा था। सेठ ने पूछा कि यह सन्दूक किसका है और इसमें क्या है ? एकाउन्टेन्ट ने हाथ जोड़कर कहा—"श्रीमान् ! यह सन्दूक तो मेरा है; किन्तु इसमें क्या है यह कृपया मत पूछिये ?" सेठ का सन्देह और बढ़ा और अपने साथ वाले आदमियों को कहा कि इस सन्दूक को खुलवाओ। एकाउन्टेन्ट ने हाथजोड़कर प्रार्थना की कि कृपया इसे मत खुलवाओ; किन्तु सेठ नहीं माना तब उसने ताला खोल दिया।

सेठ ने देखा कि उस सन्दूक में दो फटी पुरानी कमीज, एक मैला सा कोट तथा लुङ्गी रखी थी जिनकी जेबों में कुछ नहीं था। दो चार मैले कपड़ों के टुकड़े भी थे। इसके अलावा उस सन्दूक में कुछ नहीं था।

सेठ ने आश्चर्य और जिज्ञासा से पूछा कि तुम प्रतिदिन इस कमरे में आकर क्या करते हो ? एकाउन्टेन्ट बोला—"देखो महाराज ! आपकी कृपा से मुझे अच्छी नौकरी मिल गयी और मेरा जीवन-स्तर कैसा अच्छा हो गया। अपनी इस समुन्नत स्थिति में मैं अहंकार करने न लग जाऊँ। उसके लिए मैं अपनी पूर्व स्थिति की स्मृति को बनाये रखने के लिए रोज इधर आता हूँ और कुछ देर इन्हें देख जाता हूँ; ताकि मुझमें घमण्ड न जगे। अहंकार का भाव नहीं बढ़े।" वह सेठ अपने एकाउन्टेन्ट से बड़ा प्रभावित हुआ और उसके पद में और वेतन में वृद्धि कर दी !

ठीक इसी प्रकार अपने बाबा मुक्तानन्द की कृपा से हमको एक आन्तरिक धन मिला, एक अनुपम उपलब्धि मिल गयी जिसे शब्दों अथवा वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। हम हमेशा याद करते रहते हैं और भावविभोर हो जाया करते हैं कि जो भी हमें उपलब्ध हुआ है वह न

तो हमारे अपने प्रयत्न से मिला है और न ही किसी तपस्या से मिला है। उनकी ही करुणा का पुण्य-प्रसाद है।

कुछ संयोग और कुछ पूर्व कर्मों के प्रताप से श्रीगुरु की करुणा और कृपा हमें सुलभ हो गयी जिसे हम सम्भाल कर रखने और उसका सदुपयोग करने का प्रयास करते हैं। अतः आप भी इसे समझिये कि यह संसार तो अनेक कष्टों का घर है। दुनिया में जन्म लेकर दुःख-सुख की धूप-छाँव से तो गुजरना ही होता है। ऐसा मत सोचो कि आपको ही कोई कष्ट अथवा चिन्ता है। यह सभी को है। किसी को शारीरिक तो किसी को मानसिक पीड़ा है और किसी को यह दोनों ही हैं। किन्तु आपको संसारिक चोटों से, इन चिन्ताओं से मुक्त होना है। जो कुछ भी होता है, वह भगवान की इच्छा से होता है; अतः उसकी शरण में जाने से ही आनन्द मिलेगा। किसी भी परिस्थिति में ईश्वर के नाम जप को मत बिसारो।

हमारा देश भारत बहुत प्राचीनकाल से इसी नाम-जप के सहारे खड़ा हुआ है। इसकी संस्कृति और कण-कण सन्तों के श्रम-बिन्दुओं से नहाया हुआ है। प्राचीन और नवीन सन्तों की तपस्या से ही इस पवित्र पुण्य स्थली को इतनी पावनता मिली है। यहाँ के पाँच तत्त्वों से ऋषि-मुनि पैदा होते रहे हैं। ऐसा समझ लेने का कोई कारण नहीं कि आप लोग ऋषि-मुनि नहीं हैं। वही लोग ऋषि-मुनि कहलाते हैं जो अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं और परमात्मा का पुण्य स्मरण करते हैं तथा उस प्रभु को सभी में व्यापा हुआ देखने का सामर्थ्य विकसित कर सभी से प्रेम और करुणा का व्यवहार करते हैं। ऐसा मत समझो कि जटाजूट बढ़ाकर तथा भस्मी लगाकर वन में रहने वाले ही ऋषि हैं। जो सतत् प्रभु के ध्यान में मस्त होकर उसको समर्पित हैं वे सभी ऋषि हैं। ऐसा ऋषि-मुनि होना सभी के भाग्य में नहीं लिखा होता। यह सौभाग्य उसीको मिलता है जिस पर उस परमात्मा की विशेष कृपा होती है। यदि उसकी कृपा न हो तो उस करुणाकर को जपा ही नहीं जा सकता। पुण्य कर्मों के संचय से ही उससे प्रेम हो सकता है अन्यथा नहीं।

उसे जानना और पा लेना श्रीगुरु कृपा से बड़ा सहज हो जाता है, यह ध्रुव-सत्य है। श्रीगुरु अपनी कृपा से असाध्य को भी सहज साध्य बना देते हैं। वाल्मीकि की कथा तो सभी को विदित है। जब महर्षि नारद ने वाल्मीकि को अनेकों कुकृत्यों में संलग्न देखा तो उनको उद्धार हेतु राम-नाम से दीक्षित कर राम-राम जपने का आग्रह किया तो वे राम का पवित्र नाम भी नहीं जप पाये। हाँ, बाद में वे इस नाम जप के स्थान पर मरा-मरा जपकर भी सभी पापों से मुक्त हो गये। अतः यह भी सत्य है कि ईश्वर की कृपा बिना हम उनका नाम जप कर लेने में भी सफल नहीं हो सकते। अपने समस्त समर्पण भाव से तथा प्रेम और श्रद्धा से प्रभु को भजना चाहिये।

आप ध्यान के लिये, आनन्द के लिए और आत्मज्ञान के लिए नामजप का आश्रय लें। उस नाम जप में श्रद्धा और भक्ति का मिश्रण अनिवार्य है। एक संत ने कहा है:

नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?
क्रोध न छोड़ा, झूठ न छोड़ा,
सत्य वचन क्यों छोड़ दिया ?
नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?
झूठे जग में दिल ललचाकर
असल वचन क्यों छोड़ दिया ?
नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?

इसलिए हम ईश्वर के नाम जपन को नहीं छोड़ेंगे। संत नामदेव कहते हैं: जो जो भी घटित होता है, उसे होते रहने दो; किन्तु ईश्वर का स्मरण मत बिसारो। जो कुछ भी होता है, उसमें खुशी मनाओ। हर हालत में खुश रहो। ऐसे अभ्यास से हम आन्तरिक खुशी अथवा आनन्द पा लेंगे। गाली पाकर दुःखी अथवा क्रोधित मत बनो और प्रशंसा पाकर फूल न जाओ। इन दोनों ही स्थितियों में सहज बने रहने के लिए अपने अन्दर की शक्ति को जागृत करो। धीरे-धीरे सफलता मिल जायेगी और मान-अपमान में सहज बन जाओगे। इसी स्थिति को गीता में 'स्थित-प्रज्ञ' होना कहा है। कोई धूल और पत्थर फेंके; किन्तु उसके लिए दुःख अथवा चिन्ता नहीं करना है। प्रत्येक के मन मन्दिर में, उसके हृदय में भगवान बैठा है। अपने अज्ञान के कारण अथवा अभिमान के कारण ऐसा लगता है कि भगवान नहीं है। अतः नाम जप से और ईश्वर को

[शेष पृष्ठ ८ पर]

दक्षिण भारत के देवालय

(५)

श्री आर० राजीवन

•

—दक्षिण के मन्दिरों की रचना शैली उत्तर भारत के मन्दिरों से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ के अधिकांश मन्दिर विष्णु, शिव या सुब्रह्मण्य के नाम पर बने हैं। ये ही तीन दक्षिण के सबसे अधिक पूज्य एवं प्रधान देवता हैं। कहीं-कहीं मारिअम्मन अथवा शीतला देवी के भी मन्दिर मिलते हैं। शिव के मन्दिरों में शिवलिंग का तथा विष्णु के मन्दिरों में भगवान् विष्णु की मूर्ति होना स्वाभाविक है। विष्णु को कहीं-कहीं रंगनाथ या पेरुमाल नाम से भी संबोधित करते हैं। इसी प्रकार शिव के भी वैदीश्वर, कपालीश्वर, वहदीश्वर, मातृ-भूतेश्वर आदि अनेक नाम हैं। प्रत्येक मन्दिर का अपना स्थल पुराण होता है, जिसमें उस मन्दिर के अधिष्ठात्री देवता या देवी की लीलाओं का तथा मन्दिर के निर्माताओं का वर्णन होता है।

यहाँ के मन्दिरों में देव और देवी के मन्दिर अलग-अलग होते हैं। परन्तु छोटे-छोटे मन्दिरों में दोनों के मन्दिर एक ही प्राकार के अन्दर, किन्तु अलग-अलग, बने होते हैं। भगवान् का मन्दिर देवी के मन्दिर से अपेक्षाकृत बड़ा होता है। मुख्य मन्दिर के सबसे भीतरी भाग को गर्भगृह कहते हैं। इसी गर्भगृह के भीतर देवता को मूर्ति रहती है। शरीर के भीतर जिस तरह हृदय सबसे अधिक सुरक्षित स्थान होता है और बाहरी प्रकाश से रहित भीतरी प्रकाश से ही प्रकाशित रहता है। मन्दिर के पुजारियों को छोड़कर अन्य किसी को गर्भगृह के अन्दर प्रवेश नहीं मिलता। मन्दिरों में दो मूर्तियाँ होती हैं, एक तो भगवान् को स्थल मूर्ति, जो प्रायः प्रस्तर निर्मित होती है, दूसरी उत्सव मूर्ति, जो सोना, चांदी या अष्टधातु की बनी हुई होती है। उत्सव के समय यही उत्सव मूर्ति बड़े-बड़े रथ अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के वाहनों में बिठाकर नगर में चारों तरफ फिराई जाती है। मन्दिर से लगा हुआ, प्राकार के भीतर या बाहर, एक बड़ा तालाब होता है, जिसे तेप्पकुलम कहते हैं। वर्ष में एक बार भगवान् की उत्सव-मूर्ति सुन्दर सजी हुई, नौका में बिठाकर इसी तालाब में फिराई जाती है। इस उत्सव विशेष को तप्पम-उत्सव कहते हैं। मन्दिर के प्राकार के भीतर बड़े-बड़े मण्डप भी बने रहते हैं, जिसमें उत्सवों के समय यात्री आराम करते हैं। कभी-कभी भगवान की उत्सव-मूर्ति यहाँ लाकर सर्वसाधारण के दर्शन के लिए रखी जाती है।

गर्भगृह के सिंहद्वार पर दोनों तरफ द्वारपालों की विशालकाय मूर्तियाँ पत्थर या धातु की बनी होती हैं, जिन पर हवा-पानी से उनकी रक्षा करने के हेतु घी या तेल-चुपड़ा रहता है। मन्दिर के प्राकार के भीतर दूसरे देवताओं के भी छोटे-छोटे मन्दिर होते हैं। शिव के मन्दिर के प्रांगण में विशेष रूप से गणेश, सुब्रह्मण्य, नटराज आदि देवताओं के मन्दिर होते हैं तथा ६३ शैव सन्तों की मूर्तियाँ रखी रहती हैं। इसी प्रकार विष्णु मन्दिर के प्रांगण में राम, कृष्ण, गरुड़, हनुमान आदि देवताओं के मन्दिर तथा १२ वैष्णव आलवारों (सन्तों) की मूर्तियाँ रहती हैं। प्रायः विष्णु और शिव दोनों के मन्दिरों में नवग्रहों की मूर्तियाँ एक कोने में अवश्य पाई जाती हैं। गर्भगृह के सामने एक विशाल ध्वज स्तम्भ का होना भी आवश्यक है और गर्भगृह के चारों तरफ परिक्रमा के लिए ढका हुआ ओसारा भी दक्षिण के मन्दिरों का एक प्रधान अंग है। कहीं-कहीं ओसारे की दीवारों पर मन्दिर का इतिहास खुदा होता है अथवा भगवान की लीलाओं के सुन्दर रंगीन चित्र बने होते हैं।

प्राचीन काल में दक्षिण में राजाओं तथा धनी व्यक्तियों के लिए मन्दिर बनवाना एक महत्वपूर्ण धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। जिस गाँव या नगर में मन्दिर नहीं, वह बसने

के अयोग्य माना जाता था। तमिल कवियित्री अव्वय्यार ने लिखा है—"जहाँ-मन्दिर नहीं हो, वहाँ मनुष्य को कदापि निवास नहीं करना चाहिए।" 'तेवारम' में भी इसी आशय की उक्ति मिलती है कि "जहाँ मन्दिर नहीं हो, वह स्थान मरुभूमि की तरह त्याज्य है।" संघम कवि नक्कीरर ने लिखा है कि "जहाँ भगवान के उत्सव मनाये जाते हैं, जहाँ भक्त लोग नियम से प्रार्थना करते हैं, जहाँ दो नदियाँ मिलती हैं, जहाँ नगरों के मध्य खुली हुई जगह हो, जहाँ तीन-चार रास्ते मिलते हों, गाँवों के बीच उगे हुए पेड़ों के नीचे तथा गौओं को बाँधने के स्थान में भगवान स्वयं निवास करते हैं।"

दक्षिण के मन्दिर प्रायः नगर के मध्य में बने होते हैं, और बाग-बगीचे, तालाब, मैदान, मण्डप, वेद-पाठशाला आदि वहाँ के प्रत्येक मन्दिर के मुख्य अंग होते हैं। ये वस्तुएँ मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रखने में भी सहायक होती हैं। इस तरह दक्षिण के मन्दिर हिन्दू समाज की पार्थिव एवं आध्यात्मिक दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

सभी मन्दिरों में सबेरे भगवान की पूजा और सन्ध्या को आरती होती है, नैवेद्य चढ़ाये जाते हैं और प्रसाद बँटते हैं। अनेक शुभ तिथियों को उत्सव मनाये जाते हैं, तब भगवान के दर्शन के लिए तथा उत्सव देखने के लिए दूर-दूर से यात्री इकट्ठे होते हैं। प्रायः सभी मन्दिरों से लगी हुई वेद-पाठशालाएँ भी रहती हैं, जिनमें बालकों को निःशुल्क वेदाध्ययन कराया जाता है और कहीं-कहीं उन्हें निःशुल्क भोजन तथा वस्त्र भी दिया जाता है। पूर्वकाल के राजाओं, रईसों, धनी, व्यापारियों तथा भक्तों ने मन्दिरों के खर्च के लिए बड़ी सम्पत्ति और जागीरें दे रखी हैं, जिनकी आय से मन्दिर की मरम्मत तथा पूजा आदि का खर्च चलता है।

यहाँ के मन्दिर हजारों वर्षों से दक्षिण भारत के सभी जाति और वर्गों के लोगों के जीवन को प्रभावित करते तथा उनके हृदय में श्रद्धा-भक्ति और पवित्र भावनाओं का उद्रेक करते आये हैं। आज भी दक्षिण भारत के लोगों के हृदय में मन्दिरों तथा मन्दिर के देवता के प्रति प्रगाढ़ भक्ति तथा श्रद्धा की भावनाएँ विराजमान हैं, जो उनके दैनिक जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करती रहती हैं। ●

अपवित्रता

आचार्य रामानुज मंदिर की परिक्रमा कर रहे थे। अपनी पहली परिक्रमा ही पूरी नहीं कर पाये थे कि उनके मार्ग में एक चाण्डाल आ गया। आचार्य का परिक्रमा क्रम टूट गया और वे उत्तेजित हो उठे। कठोर शब्दों में वे बोले-'हट जा चाण्डाल तूने मेरी परिक्रमा खंडित कर दी। "किधर जाऊँ? आचार्य प्रवर! चाण्डाल ने विनम्र वाणी में पूछा-"मेरे चारों ही ओर अपवित्रता है। फिर अपनी अपवित्रता किधर ले जाऊं?"

जो ज्ञान उन्हें वेद नहीं दे सके थे, एक शूद्र ने दे डाला। आचार्य बोले "तात्! तुमने मेरा अद्वैत दर्शन साकार कर दिया, मेरी आंखे खोल दी।" कह कर उन्होंने उसे प्रणाम किया और पूर्ववत परिक्रमा में तल्लीन हो गए। ●

[पृष्ठ ६ का शेषांश]

समर्पित होकर उस अभिमान और अज्ञान को निकल जाने दो। कबीर का कथन है:

घूंघट के पट खोल रे,
तोहे पिया मिलेंगे।
घट घट में वह साईं रमता
कटुक वचन मत बोल रे॥ तोहे ...

प्रत्येक घट में (हृदय में) और कण-कण में भगवान विराजमान हैं। इस कारण, "हे मनुष्य! तू कड़वी वाणी मत बोल।" अतः बड़ी शान्ति और मस्ती से ईश्वर को ध्याओ, उसे गाओ। हरएक में उसके दर्शन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करो। इस तरह आपको एक अनुपम शान्ति और आनन्द की उपलब्धि हो जायेगी और नाम जप का अभ्यास बढ़ता जायेगा।

(आश्रम पत्रिका से)

बाह्य त्याग

श्री स्वामी अशोकानन्द

•

प्रश्न उठता है, क्या बाह्य त्याग की भी आवश्यकता है ? मानसिक त्याग ही क्या पर्याप्त नहीं है ? हमारी राय में केवल भीतरी त्याग पर्याप्त नहीं है । हमारे बाह्य क्रिया-कलापों से हमारे विचारों और उद्देश्यों की झलक मिलती है । यदि हम आन्तरिक त्याग करते हैं तथा सच्चे हैं, तो इसकी अभिव्यक्ति बाहर भी होनी चाहिए । यदि किसी के भीतर कोई संसार अथवा परिवार नहीं हैं, तो उसके बाहर भी ये सब कैसे हो सकते हैं ? वह तो उस सूखे पत्ते की भाँति हो जाता है, जो ईश्वर की इच्छा रूपी वायु के थपेड़े खा रहा हो । वह किसी व्यक्ति विशेष अथवा स्थान विशेष के प्रति आसक्त हुए बिना निर्द्वन्द्व विचरण करता है । उसके कोई घर नहीं हो सकता । यदि हमें उसके भीतर और बाहर, उसकी कथनी और करनी में कोई अन्तर दिखायी दे, तो हमें जान लेना चाहिए कि उसके आन्तरिक त्याग में कहीं कोई दोष है । उसमें पूर्णता और सचाई नहीं है ।

ऐसा त्याग ही आदर्श त्याग है । हम यह स्वीकार करते हैं कि ऐसे भी लोग हो सकते हैं, जो संसार में रहते हैं, पर उनका मन पर्याप्त रूप से अनासक्त है । किन्तु उनकी संख्या अत्यन्त गौण है और उनकी गिनती आम लोगों में न करके अपवाद के रूप में करनी होगी । राजा जनक बहुतेरे नहीं हो सकते । हमें उनको अपना आदर्श नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि उनका अनुसरण करना और उनकी तरह अनुभव करना अत्यन्त कठिन है । इसमें सफलता के बदले असफलता की ही अधिक सम्भावना है । यदि हमारे लिए सम्भव हो, तो हमें बाहरी और भीतरी दोनों ही त्याग करना चाहिए, क्योंकि यही सहज और स्वाभाविक है । परन्तु यदि परिस्थितिवशात् हम औपचारिक रूप से त्याग का जीवन न अपना सकें, तब फिर हमें जनक के आदर्श को, वह चाहे जितना भी कठिन क्यों न हो, कार्यान्वित करने का प्रयास करना चाहिए; क्योंकि उसके सिवाय हमारे लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

यहाँ पर हम केवल उन्हीं लोगों की समस्या पर विचार करेंगे, जो त्याग कर सकते हैं । क्या उनके लिए बाह्यत्याग आवश्यक है ? क्या ऐसे त्याग का कोई विशेष महत्व है ? इस सम्बन्ध में हम अपने पाठकों से अपेक्षा करेंगे कि वे पिछले अध्याय में बाह्य त्याग की योग्यता और शर्तों के बारे में बतायी गयी बातों का स्मरण करें, तथा त्याग की अनुकूलता के लिए आवश्यक मन की अवस्था का जो विवेचन किया गया है, उसे याद करें । उससे उन्हें तुरन्त मालूम पड़ जायगा कि हम औपचारिक त्याग पर विशेष जोर क्यों देते हैं । हमने कहा था कि मन की एक ऐसी अवस्था होती है, जब मन स्वयं होकर सुख-भोग की वस्तुओं की ओर लालायित नहीं होता, किन्तु यदि भोग-वस्तुएँ समीपस्थ हों, तो वह चंचल हो उठता है और उन्हें प्राप्त करने के लिए ललक उठता है । यदि हमने निश्चय कर लिया हो कि हमारा एकमात्र उद्देश्य मन को कामनाओं से पूर्णतया मुक्त करना है, तब तो मन की ऐसी स्थिति में हमें भोग-वस्तुओं से एकदम दूर रहना चाहिए । हमें शारीरिक रूप से ही समाज, परिवार तथा स्त्री-बच्चों के सम्पर्क से दूर चले जाना चाहिए ; क्योंकि वास्तव में गाँव या शहर तो सुख-भोग प्राप्त करने के, यदि हम 'सुख-भोग' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग करें, विशिष्टतम स्थल हैं । वहाँ प्रायः सभी नर-नारी जाने अथवा अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म रूप से आत्मतुष्टि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । उनके तथा भोग-वस्तुओं के साथ सतत सम्पर्क मन को नीचे खींचकर आत्मतुष्टि के स्तर पर ले आयेगा । अतः आध्यात्मिक आत्मोपलब्धि के इच्छुक व्यक्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय यह होगा कि वह गृहस्थों के निवासस्थानों से दूर कहीं अन्यत्र निवास करे। उसे ऐसे लोगों के सान्निध्य में रहना चाहिए, जिन्होंने पहले से ही त्यागी जीवन अपना लिया है । साथ ही उसे अपना सम्बन्ध ऐसी चीजों तथा क्रियाकलापों से रखना चाहिए, जो पूर्णतया आध्यात्मिक हैं ।

संसार में रहते हुए त्याग की भावना का विस्तार— इसका अर्थ है शक्ति का प्रचण्ड अपव्यय। फिर इसमें सफलता के बदले असफलता की ही अधिक आशंका है। इसमें सतत संघर्ष है। यदि मन हमेशा विषय-वस्तुओं के सम्पर्क में आता रहे, तो वह निम्न वासनाओं द्वारा उत्तेजित होता रहेगा। उसे हमेशा खींचकर निरापद अवस्था में रखना होगा। मन का नीचे जाना और उसे खींचकर ऊपर लाना, यह खेल निरन्तर चलता रहेगा। इस प्रकार जो शक्ति ईश्वरानुभूति में लगनी चाहिए, वह मन के नियन्त्रण में ही व्यय हो जायगी। आध्यात्मिक प्रगति केवल नाम मात्र को होगी। मन का संघर्ष स्नायुओं को झकझोर देनेवाला कार्य है। ईश्वर ही जानता है कि बिना किसी बाहरी उद्दीपन के ही मन कितना अधिक उद्दण्ड है। मन के साथ सतत लड़ाई स्नायुरोग को जन्म देती है, और यही खतरा है। अतः हममें यदि सचाई और आन्तरिकता है, तो हमें संसार का बाहर और भीतर दोनों ओर से त्याग करना होगा।

बहुधा हमारी भेंट कुछ गम्भीर प्रकृति के गृहस्थों से होती है जिन्हें देखकर लगता है कि वे विकारों से अविचलित तथा अपने आप में सन्तुलित हैं। उनमें से कुछ अवश्य ही उच्चावस्था को पहुँचे होते हैं, पर जैसा कि हमने कहा है; ऐसे लोग विरले होते हैं तथा वे अपवाद स्वरूप हैं। बहुत से जो शान्त प्रतीत होते हैं, वास्तव में वैसे नहीं होते। पहली बात तो यह है कि बाहर से दिखायी देनेवाली वस्तुएँ बहुधा भ्रामक होती हैं और दूसरी बात यह है कि उनके बाह्य दृष्टि से शान्त प्रतीत होने के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण है। वह कारण यह है कि उनके भीतर हमेशा यह बोध अवचेतन रूप से विद्यमान है कि सुख-भोग की वस्तुएँ उनकी पहुँच में है। अधिकार की यह भावना उनके मन को शान्त बनाये रखती है। यह बात नहीं कि दिन के सब समय हम उनका भोग करना चाहते हैं। पर यह सही है कि हम उन पर हर क्षण अपना अधिकार बनाये रखना चाहते हैं। बाहर से शान्त प्रतीत होनेवाले व्यक्ति को भोग-वस्तुओं से जरा अलग करके देखो, तो तुम्हें पता लग जायेगा कि उसके मन की शान्ति हवा हो गयी है तथा उसका स्वभाव भी पूरी तरह बदल गया है। जब तुम त्याग करते हो, तो तुम्हारा मन भोग के प्रति अस्वाभाविक रूप से अत्यन्त संवेदनशील हो उठता है। कामनाएँ उसकी अपेक्षा और भी बलवती और भयानक प्रतीत होती हैं, जब कि तुम संसार में थे। वे अपनी समस्त अन्तर्निहित शक्ति और बीभत्सता के साथ प्रकट होती हैं। तब सही युद्ध आरम्भ होता है। और तुम्हें युद्ध में विजय प्राप्त करनी है। संसार के बीच रहते समय इन सूक्ष्म वासनाओं को चेतन मन के सामने प्रकट होने का शायद ही कोई अवसर या सुयोग मिल पाता है, क्योंकि मन पहले से ही स्थूल वासनाओं में लिप्त रहता है। स्थूल वासनाओं को मात्र घटा करके हम यह मान बैठते हैं कि हमने वासनाओं को जीत लिया है और इसके लिए बहुधा अपने को शाबाशी देने लगते हैं। पर हम यह नहीं जानते कि सूक्ष्म वासनाएँ हमारे मन के अवचेतन हिस्से में खूँखार जानवरों की भाँति घात लगाए बैठी हैं। बाह्य त्याग से वे सतह पर आ जाती हैं और तब उन्हें युद्ध करके परास्त किया जा सकता है।

पर केवल यही एकमात्र कारण नहीं है जिसके लिए हमें त्याग करना चाहिए। और भी ऐसे कुछ आदर्श हैं, जिनके अनुसरण और अनुभव का प्रयास ईश्वरानुभूति चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए, क्योंकि वे आदर्श स्वयं ईश्वर से ही निःसृत हैं। हमें सम्पूर्णतया निःस्वार्थपरायण होना होगा तथा सार्वभौतिक प्रेम का अभ्यास और उसकी अनुभूति करनी होगी। हमें निर्भय और सत्यवादी होना होगा। ये सभी ईश्वरानुभूति के सहगामी हैं। इनकी प्राप्ति किये बिना हम ईश्वरानुभूति की आशा नहीं कर सकते। पर क्या हम संसार में रहते हुए यथार्थ में निःस्वार्थी हो सकते हैं? एक गृहस्थ भले ही दान-पुण्य के कार्य करता हो, पर उसे अपरिहार्य रूप से अपनी सारी शक्ति माता-पिता, स्त्री बच्चों तथा सगे-सम्बन्धियों की सेवा में लगानी पड़ती है। यद्यपि एक गृहस्थ की दृष्टि से इस ओर विशेष ध्यान देना उसका कर्तव्य है और इसमें निन्दनीय कुछ भी नहीं, तथापि जो ईश्वर-दर्शन का अभिलाषी है, उसके लिए एक महत्तर दृष्टिकोण से सम्पूर्ण मानव-जाति के प्रति उसके कर्तव्यों के परिप्रेक्ष्य में यह अत्यन्त न्यून है। स्वजनों तथा अन्य लोगों के बीच भेदभाव अज्ञान तथा देहासक्ति के कारण उपजता है, तथा यह ईश्वरीय ज्ञान का विरोधी है। हमारे भीतर इस भेद को मिटा देने की सतत प्रेरणा होती रहती है। जो इस प्रेरणा के प्रति अपने को समर्पित कर देते हैं, वे संसार का

त्याग कर चले जाते हैं। पर अधिकांश व्यक्ति स्वजनों के प्रति प्रेम के कारण अपने अन्तःकरण की आवाज को दबा देते हैं। वे अपना सर्वश्रेष्ठ भाग अपने स्त्री-बच्चों के प्रति लगा देते हैं। अपने परिवार से परे लाखों दुखी व्यक्तियों की ओर उनका ध्यान बहुत कम जाता है। ऐसे जीवन में ईश्वर-दर्शन तो दूर की बात, आन्तरिक त्याग का होना भी सम्भव नहीं है। एक गृहस्थ के द्वारा सार्वभौम प्रेम का अभ्यास कभी भी सम्भव नहीं है। उसकी जीवन-प्रणाली में ही एक अन्तर्विरोध है। सबसे प्रेम करने का तात्पर्य है सबकी समान भाव से सेवा, और गृहस्थ चाहे जितना आध्यात्मिक हो, ऐसा नहीं कर सकता।

वस्तुओं के सही मूल्यांकन के बिना आध्यात्मिकता की प्राप्ति नहीं हो सकती। हम मूल्यों में भूल करते हैं। पर सन्त को मालूम है कि संसार का कोई मूल्य नहीं है। वह सारहीन, खोखला और महत्त्वहीन है। उसकी चमक-दमक उसके समाज, उसकी सरकारों और उसकी ताकतों में कुछ नहीं धरा है। यदि हमें आध्यात्मिक होना है, तो इसी भावना से पुष्ट होना होगा। अर्थात्, हममें मुक्ति की दृढ़ भावना होनी चाहिए। हमें कभी ऐसा नहीं लगना चाहिए कि हम किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति आसक्त हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता ही एकमात्र आदर्श है। क्या कभी एक गृहस्थ ऐसा सोच और अनुभव कर सकता है? नहीं। जिस क्षण व्यक्ति वस्तुओं तथा व्यक्तियों को महत्त्व देना प्रारम्भ करता है तथा उन पर अधिकार जमाना चाहता है, उसी क्षण वह समाज, शासन, परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा असालीन आलोचनाओं की पकड़ में आ जाता है। जिसे वह उचित समझता है, उसे कार्यान्वित करने में वह स्वतन्त्र नहीं रह पाता। अपने विवेक को छोड़ उसे अन्य ताकतों की शरण लेनी पड़ती है। उसे अपने मन, वचन और कर्म में सतर्कता बरतनी पड़ती है, ताकि उसके परिवार, स्वजन, मित्र एवं समाज की भलाई खटाई में न पड़े। उसके लिए सत्य पर प्रतिष्ठित होना असम्भव हो जाता है। वह समाज का विरोध तभी कर सकता है, जब उसे एक दूसरे समाज द्वारा संरक्षण की प्राप्ति का भरोसा हो। जो व्यक्ति अपने परिवार तथा सांसारिक भोगों द्वारा आबद्ध है, उसमें यथार्थ स्वतन्त्रता, यथार्थ निर्भरता और यथार्थ सचाई नहीं हो सकती। एकमात्र संन्यासी में ही ये गुण हो सकते हैं। किन्तु इससे हमारा अभिप्राय यह नहीं कि सभी संन्यासी इन्हें पाने में सफल होते हैं। अभिप्राय केवल इतना है कि संन्यासियों को इन्हें प्राप्त करने का अधिक अवसर मिलता है, जबकि गृहस्थ चाहकर के भी यह नहीं कर पाता। पर चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, ये गुण उसे एकमात्र सतत अभ्यास के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।

और सर्वोपरि वस्तु है—शक्ति। इस दुर्दान्त मन को जीतने तथा दुस्तर माया को परास्त करने के लिए प्रचण्ड शक्ति आवश्यक है। यह शक्ति त्याग के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। एकमात्र स्वतन्त्रता ही शक्ति दे सकती है। अतः शक्तिशाली होने के लिए मन को सम्पूर्णतया स्वतन्त्र होना चाहिए। आध्यात्मिक साधक के लिए यह स्वतन्त्रता इतनी मूल्यवान् है कि जब श्रीरामकृष्ण ने अपने एक तरुण शिष्य के नौकरी में प्रवेश करने का समाचार सुना, तो वे अत्यन्त मर्माहत हो जोरों से रो पड़े थे और कहा था कि उन्हें उसके मरने की खबर सुनकर उतना दुःख न होता। वास्तव में बाह्य त्याग के बिना आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण विकास, यहाँ तक कि मनुष्यत्व की परिपूर्णता भी सम्भव नहीं है।

अन्त में हम यह उल्लेख कर दें कि त्याग के यथार्थ महत्त्व का अनुभव तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह जीवन में न उतरे। जो व्यक्ति संसार में है, चाहे विवाहित हो अथवा अविवाहित, उसे काल्पनिक प्रयासों द्वारा इसके महत्त्व को नहीं समझाया जा सकता। जब व्यक्ति दृढ़ कदम उठाता है, तभी एक नया संसार उद्घाटित होता है। और उस संसार को वही व्यक्ति जान पाता है, जिसने संसार का त्याग किया है। ●

भारत के विषय में विदेशी क्या सोचते हैं, यह जानने की प्रत्येक देशवासी को उत्कंठा रहनी भी चाहिए। चंद्रगुप्त के काल में मेगास्थनीज पहला विदेशी यात्री था जिसने आज से चौबीस सौ वर्ष पूर्व के भारत पर अपनी पुस्तक 'इंडिका' में प्रकाश डाला है। इसी आधार पर है यह लेख :

भय से मुक्ति

श्री मुनि किशनलाल

•

एक था खरगोश। वह अखरोट के पेड़ के नीचे ऊँघ रहा था। एक अखरोट हवा के झोंके के साथ खरगोश के कान के पास गिरा। खरगोश नींद में तो था ही, खड़खड़ाहट की आवाज से वह चौंका। भय से आक्रांत तेजी से घने जंगल की ओर दौड़ा। उसकी तेज गति को देख, दूसरे खरगोशों ने प्रश्न किया, "दादा! इतनी तेज गति से क्यों दौड़ रहे हो? क्या कोई शिकारी तुम्हारे पीछे पड़ गया? या प्रलय होने वाला है?" "प्रलय क्या? महाप्रलय होने वाला है। पागलो! तुम्हें पता नहीं आकाश गिर गया!" "आकाश? हां आकाश ... ।" खरगोश बेतहाशा दौड़ा जा रहा था। दूसरे खरगोश भी मन ही मन भयभीत बन उसके पीछे दौड़ने लगे। खरगोशों की टोली जंगल में तेजी से दौड़े जा रही थी। पथ में सियार मिले! वे गमगीन थे कि खरगोश क्यों दौड़े जा रहे हैं? वे भी उनके साथ दौड़ने लगे। सियारों को देखकर हिरण भी उनके साथ हो गए। हिरणों के साथ-साथ जंगल के अन्य जानवर भी दौड़ने लगे। सारा जंगल ही मानो दौड़ने लगा। शेर ने जब जंगल के जानवरों को इस तरह दौड़ते देखा, तो आश्चर्य अभिभूत हो गया। "क्या मेरे से भी बढ़कर कोई समर्थ पैदा हो गया?" शेर के अहंकार को मानो किसी ने ललकार दिया हो। वह तेज ध्वनि के साथ दहाड़ा। उसकी इस गर्जना से सारा जंगल सिहर उठा। सारे जानवर जहां के तहां रुक गए।

"कौन है वह जो मेरे रहते जंगल में इस तरह की गुस्ताखी करे?" सब मूक थे। "बोलते क्यों नहीं? क्या हुआ तुम सबको, जो पागलों की तरह दौड़े जा रहे थे?"

हाथी ने कहा, "मुझे पता नहीं, घोड़े दौड़े जा रहे थे। उन्हें देखकर हम भी दौड़ने लगे।" घोड़ों से जब पूछा तो तो उनका भी ऐसा ही उत्तर था, "हमें पता नहीं, हिरण दौड़े जा रहे थे। इसलिए हम भी दौड़ने लगे।" हिरणों ने सियारों का, सियारों ने खरगोशों का नाम लिया। खरगोशों ने कहा, "हमें तो कुछ पता नहीं, हम सब तो शान्त छुपे-छुपे खाना खा रहे थे। इतने में बूढ़ा दादा बड़ी तेजी से दौड़ता हुआ कह रहा था, जंगल के जानवरो! जीवन को बचाना हो तो भागो, आकाश गिर गया है।" अंत में शेर के सम्मुख बूढ़ा खरगोश आया और बोला, "मैंने देखा है और सुना है आकाश को गिरते हुए। यह मेरी खुशकिस्मत थी कि मैं बच गया, नहीं तो मेरा निश्चित विनाश था।"

"कहाँ गिरा है तुम्हारा आकाश बता मुझे।"

"मैं नहीं जा सकता वहाँ.......।"

"वहाँ-वहाँ, क्या? मैं चलता हूँ तुम्हारे साथ।"

खरगोश कांपता हुआ बोला, 'मैं दूर से उस स्थान को दिखा सकता हूँ, लेकिन ।"

शेर के साथ खरगोश गया। उसने दूर से उस स्थान की ओर संकेत किया। शेर ने उस स्थान को देखा तो अखरोट का फल पड़ा मिला। उस फल को सब के सामने रखा, तो सब खिलखिलाकर हँसते-हँसते लोटपोट हो गए।

खरगोश की तरह ही आज इन्सान अकारण भय से भयभीत है। वह स्वयं भय की कल्पना करता है और स्वयं भय से भयभीत बनता है, लेकिन भय क्या है? उसका साक्षात् उसने कभी किया नहीं और न वह जान पा रहा है कि भय आखिर है क्या? शेर के शावक को उसकी माँ सिखाती है कि तुझे और किसी का भय नहीं, किन्तु एक काले माथे वाले का ध्यान रखना। वह बड़ा ही विचित्र प्राणी है। उससे ही तुझे डर है, भय है। इधर मनुष्य शेर से डरता है। उसका कारण पशु की क्रूरता ही है किन्तु वह मनुष्य से डरता है, वह मात्र अपनी मां के प्रशिक्षण का परिणाम है।

भय, चित्त की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति का शरीर, वाक् एवं मानस आन्दोलित हो जाता है। उसका संस्कार सूक्ष्म शरीर से चेतना तक जाता है। चैतन्य का प्रकम्पन संस्कारों को प्रभावित करता है। संस्कारों से मन, वाक् और शरीर चंचल बनते हैं। इस चंचलता से भय का निर्माण होता है। भय केवल अंतरंग घटना ही नहीं है, वह बाहर के वातावरण से भी प्रभावित होता है। भय के निर्माण में बाहर का वातावरण कार्य करता है, वहां अन्तरंग कारण भी है। प्रत्येक प्राणी में आहार-संज्ञा की तरह भय-संज्ञा है। मौलिक वृत्ति है। वह प्राणी में है। भय क्यों होता है? मनोवैज्ञानिकों ने इसे खोजने और विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भय काम के सदृश ही प्रवृत्ति है! भय के प्रतिफलन का कारण वातावरण एवं तात्कालीन स्थितियाँ है। व्यक्ति आदि-युग में यौगलिक रूप में जीवन व्यतीत करता था। आवश्यकताएँ सीमित थीं। उनकी पूर्ति सहज साधनों—कल्पवृक्षों से पूर्ण हो जाती थीं। जनसंख्या की अधिकता, वस्तुओं की कमी से छीना-झपटी होने लगी। एक दूसरे के अधिकार का हनन होने लगा। उस समय जो कुछ होता था, वह निश्चित ज्ञात था। आकस्मिक दुर्घटना घटित नहीं होती थी। कुछ आकस्मिक घटनाओं ने उसके मानस को आन्दोलित किया। एक दूसरे की हत्या और वस्तुओं की छीना-झपटी से भय का संचार हुआ। वे संगठित और शस्त्र से सन्नद्ध रहने लगे। संगठन और शस्त्र ने संघर्ष का रूप लिया। संगठन और शस्त्र के नए-नए रूप सामने आने लगे। भय का साम्राज्य चहुँ दिशाओं में व्याप्त होने लगा। अहर्निश भय से भयभीत व्यक्ति प्रतिक्षण संत्रस्त रहता। इस स्थिति से मुक्ति-प्रदाता जो तत्त्व है, उसे महापुरुषों ने धर्म की संज्ञा से अभिहित किया।

भगवान् महावीर ने कहा, "सव्वतो पमत्तस्स भयं, अपमत्तस्स नत्थि भयं" प्रमादी को भय है। प्रमादी का तात्पर्य है—जो मन और इन्द्रियों के विषय में अनुरक्त रह कर स्वरूप को विस्मृत कर देता है। अपने स्वरूप का विस्मरण ही प्रमाद को उत्पन्न करता है। प्रमाद का तात्पर्य है—अकरणीय कार्य करना।

अकरणीय कार्य की ओर प्रवृत्ति से ही भय उत्पन्न होता है। वह सोचता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह करणीय नहीं है। किसी ने देख तो नहीं लिया है, इससे वह भयभीत हो चिंतित होता है। चिंता ही पुनः पुनः भय को उत्पन्न करती है।

मान्यताएँ और भय

भय को उत्पन्न करने में मान्यताओं का योग है। समाज में प्रचलित मान्यताओं द्वारा व्यक्ति के चित्त में धारणाओं का निर्माण होता है। धारणाओं से उसके चित्त पर संस्कार पड़ते हैं। यह संस्कार ही उसमें भय की स्थिति को बनाते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने भय के सम्बन्ध में विविध प्रयोग किए। कुछ पिल्लों को ऐसी स्थिति में पाला गया कि उनको किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट एवं भय उत्पन्न न हो। बड़े होने के पश्चात् उनके शरीर में सुइयाँ चुभोई गईं। दियासलाई को जलाकर जलाने की कोशिश की गई, किन्तु वह न भयभीत हुए और न उन्होंने कष्ट का अनुभव किया। ऐसी परिस्थितियाँ भी देखी जाती हैं कि कोई कार्य सामान्य रूप से कष्टप्रद होता है, वही कार्य सुखद अनुभव होने से व्यक्ति करने को उत्सुक होता है।

अज्ञात से भय

बहुत-सी स्थितियाँ तब तक भय उत्पन्न करती हैं, जब तक वे अज्ञात होती हैं। अज्ञात स्थिति ही भय का कारण बनती है, ज्ञात होते ही उससे भय निकल जाता है। दुःख मृत्यु और विनाश की उपलब्धि अथवा आशंका से चित्त भयग्रस्त होता है। दुख-सुख मन की स्थिति पर आधारित हैं। दुख सुख बन जाता है, सुख दुख में परिवर्तित हो जाता है। मृत्यु और विनाश भय की उत्पत्ति के कारण बनते हैं। मृत्यु का भय भी अज्ञात से जुड़ा है, वह प्राप्त स्थिति को छोड़ कर कहाँ जाएगा? वहाँ की स्थिति क्या और कैसी होगी? परिचित से मुक्ति और अपरिचित स्थिति में क्या होगा? इसके अतिरिक्त मृत्यु की घटना से प्राप्त जगत और आशाएँ समाप्त हो जाती हैं, जिससे उसके प्राप्त योग में अन्तराय आ जाती है।

मोहनीय से भय

जैन परम्परा के अनुसार भय मोहनीय कर्म प्रकृति के उदय से प्रगट होता है। मोहनीय कर्म व्यक्ति को मूढ़

बनाता है। उसके अभिभव के लिए आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग का विधान किया है :

"मोहपगड़ी भयं अभिभवितुं, जो कुणइ काउस्सगं"
—कायोत्सर्ग शतक

कायोत्सर्ग से शरीर एवं मन के तनाव का विसर्जन होता है। भय-चिकित्सा के लिये कायोत्सर्ग का विधान किया गया है। यह सम्यक् है, क्योंकि तनावग्रस्त व्यक्ति ही भय से भयभीत होता है स्थानांग में एक प्रसंग पर बताया गया है, भयभीत व्यक्ति के ही यक्ष आदि प्रविष्ट हो जाते हैं। वर्तमान मे भूत पक्ष की ही घटित घटनाओं में जब तलाश की जाती है, तब पाते हैं कि वह व्यक्ति तनावग्रस्त और भयभीत रहता था। भय से व्यक्ति की चेतना सिकुड़ती है, वहाँ प्रेम, करुणा और मैत्री से चैतन्य फैलता है। जहाँ सिकुड़न होती है, रिक्त स्थान में यक्षादि का प्रवेश सहज हो जाता है। भयभीत व्यक्ति को ही मनुष्य तिर्यंच आदि भी पीड़ित करते हैं। प्राचीन उक्ति यथार्थ है कि भय से भय उत्पन्न होता है।

भय से मुक्ति के उपायों पर जब चर्चा करते हैं, तो सबसे पहले कायोत्सर्ग ही आवश्यक है। कायोत्सर्ग शरीर और मन दोनों के बीच एक सामंजस्य स्थापित करता है। सामंजस्य ही समाधि की ओर चैतन्य को ले जाता है। कायोत्सर्ग से भेद-विज्ञान की स्पष्टता होती है, जिससे व्यक्ति को यह अनुभव हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर में बहने वाली चैतन्य की धारा इस शरीर से भिन्न है, जिससे शरीर एवं पदार्थ के प्रति आसक्ति का भाव टूटने लगता है। आसक्ति की निवृत्ति चेतना को जागृत बनाती है। जागृत चैतन्य से कोई सत्य अज्ञात नहीं रहता, सत्य का ज्ञान होने से भय की निवृत्ति सदा-सदा के लिए हो जाती है।

भय-मुक्ति और सुझाव

भय के कारणों की चर्चा में धारणाओं का उल्लेख किया गया। धारणा पहले स्थूल मन पर और फिर सूक्ष्मतम मन में प्रविष्ट हो जाती है, जिसे मनोविज्ञान 'कोनसस' (Conscious) कहता है। 'सबकोनसस' (Subconscious) में गई हुई वृत्ति को निर्मल बनाने के लिए सुझाव (Suggestion) आवश्यक है। कायोत्सर्ग द्वारा शरीर को योग-निद्रा में ले जाकर भय के संस्कारों को निरसन करने के लिए विधायक सुझावों को अन्तर्मन को दिया जाए, तो उससे भय के संस्कार निरस्त हो जाते हैं।

सुझाव का मार्ग स्वयं अथवा किसी योग्य निर्देशक के माध्यम से किया जाए, तो सरलता से भय के अनेक संस्कारों से मुक्त हो सकते हैं। सन् १९७४ में हिसार साधना-शिविर में बीकानेर का एक हरिजन भाई आया। उसने किसी से सुना कि साधना-शिविर में भय संस्कारों को दूर करने के प्रयोग होते हैं। वह शिविर में प्रविष्ट हो गया। आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग एवं ध्यान के प्रयोग चल रहे थे। वह तीसरे दिन मेरे पास आया और कठिनाई को प्रस्तुत करते हुए बोला कि मैं तो अपनी समस्या के समाधान के लिए यहाँ आया हूँ। उसे त्राटक के माध्यम से कायोत्सर्ग में ले जाया गया। कायोत्सर्ग में प्रवेश के साथ ही वह बुरी तरह छटपटाने लगा, शरीर में एँठन सी होने लगी। अत्यन्त भयभीत हो चिल्लाने लगा। सुझावों के माध्यम से उसके चित्त और शरीर को पूर्ण शैथिल्य एवं विश्राम की सूचना दी गई। अब वह धीरे-धीरे सामान्य स्थिति में आने लगा। उस अवस्था में उसे स्पष्टता से उस दृश्य को दिखाते हुए अभय के सुझाव दिए गए। तीन दिन के प्रयोग से वह उस भयग्रन्थि से मुक्त हो गया और सामान्य अवस्था में आ गया। बाद में पता लगा कि उसे स्वप्न में भयंकर दृश्य दिखाई देता था कि कोई शेर उसके सम्मुख दहाड़ रहा है। वह इतना भयभीत हो जाता था मानो उसके शरीर से किसी ने रक्त को खींच लिया हो। भय-मुक्ति के सुझावों से वह सदा-सदा के लिए स्वस्थ हो गया। ऐसी अन्य अनेकों घटनाएँ और प्रयोग हैं। उनकी चर्चा कर निबन्ध के कलेवर को बढ़ाना नहीं है। भय-मुक्ति के लिए प्रेक्षा-ध्यान अमोघ साधन है, जिससे चेतना का जागरण होता है। जागृत चैतन्य में भय ठहर नहीं सकता।

●

स्वास्थ्य के लिए हँसिए और हँसाइये

श्री कैलाश जैन

मेरे एक सहकर्मी हैं, बहुत ही जिन्दादिल व मधुर स्वभाव के। मुस्कान हर समय उनके होठों पर तैरती रहती है। दिन-भर लोगों को हँसते-हँसाते रहते हैं। बात-बात पर ठहाके लगाना उनकी आदत है। एक बार उनका इकलौता पुत्र गम्भीर रूप से बीमार हो गया। मैं मिजाज पुर्सी के लिये उनके घर गया तो देखा कि वे अपने बीमार पुत्र को लतीफा सुना कर हँसा रहे थे। मुझे आश्चर्य हुआ घर में बीमारी की गम्भीरता का कोई अनुभव नहीं हो रहा था। बाद में जब मैंने उनसे इस विषय में पूछा तो उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—"एक हँसी ही तो कुदरत की बिन पैसे की नियामत है, जो तनावों व परेशानियों को कम करती है।"

वस्तुतः सृष्टि में हँसी ही प्रकृति का मानव को एक सर्वोत्तम तोहफा है। 'हास्य' एक अनमोल वस्तु है, जिसका आदमी को कोई मूल्य नहीं चुकाना पड़ता और बदले में शारीरिक तथा मानसिक रूप से बहुत कुछ हासिल किया जा सकता है। आज की तेज रफ्तार जिन्दगी में आदमी अपने ही तनावों, कुंठाओं और संत्रासों से घिरा हुआ जी रहा है, ऐसे में हँसी के कुछ पल चुरा लेना सचमुच बहुत सुखद और आनन्ददायक अनुभव है। मनोरंजन के समस्त उपलब्ध साधनों में हँसी सर्वाधिक सुलभ और सहज साधन है।

स्वास्थ्य एवम् हँसी का बहुत गहरा सम्बन्ध है। नियमित रूप से हँसना शरीर के सभी अवयवों को ताकतवर और पुष्ट बनाता है। खुलकर हँसने से मनुष्य के रक्त संचार की गति बढ़ जाती है तथा पाचनतंत्र अधिक कुशलता से अपना कार्य करता है। हँसी श्वसन-क्रिया को भी तेज करती है, शरीर अधिक ऑक्सीजन ग्रहण करता है, फेफड़ों के तेजी से फूलने से शरीर के अन्दर की अस्वच्छ वायु पूरी तरह बाहर निकलती है। इन सब क्रियाओं से शरीर के अंगों में चुस्ती आती है और शरीर स्वस्थ रहता है।

हँसने से पसीना आता है और शरीर की गंदगी सरलता से बाहर निकल जाती है। प्रो० नार्मन कजिन्स के अनुसार हँसना एक उच्चकोटि का व्यायाम है। प्रतिदिन चार मील दौड़ने से जो व्यायाम होता है, वह नियमित रूप से हँसने से संभव है। हँसने से स्नायुओं का तनाव दूर होता है, तथा त्वचा के बन्द छिद्र खुल जाते हैं। साथ ही रक्त-चाप ठीक रहता है।

नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानों के अनुसार कई असाध्य रोगों का एकमात्र उपचार हँसी के द्वारा किया जा सकता है। हँसने से मनुष्य के शरीर में एपीनेफ्रीन, डोपामाइन, नोरपाइनफ्रीन जैसे हारमोन्स उत्पन्न होते हैं, ये हारमोन्स दर्द कम करने में योगदान करते हैं, तथा वातरोग, एलर्जी, गठिया आदि रोगों से मुक्ति दिलवाने में सहायक होते हैं।

स्टेनफोर्ट विश्वविद्यालय के मेडिकल स्कूल के डॉक्टर विलियम फ्रैंक का कथन है कि गम्भीर स्वभाव के व्यक्तियों में हँसमुख लोगों की तुलना में रोग-प्रतिरोधक-क्षमता कम पायी जाती है, उनके अनुसार हँसने से शरीर में जो हलचल पैदा होती है, उससे समूचा शरीरतन्त्र एंडोक्राइन-प्रक्रिया में संलग्न हो जाता है और मनुष्य की रोग-प्रतिरोधी ताकत में वृद्धि हो जाती है।

स्वास्थ्य एवं शारीरिक दृष्टि से तो हँसने और ठहाके लगाने वाले का अपना महत्त्व है ही लेकिन साथ ही सामाजिक और मानसिक दृष्टि से भी हँसी बड़े काम की चीज है। कल्पना कीजिए, जब आप शाम को थके मांदे घर लौटते हैं तो एक प्याला चाय के साथ एक मीठी मुस्कान क्या आपकी दिन-भर की थकान को गायब नहीं कर देती?

खुशी या प्रसन्नता कभी भी भौतिक वस्तुओं से प्राप्त नहीं होती। यह तो हमेशा अन्तर्मन से उत्पन्न होती है। उदासी के पलों में भी हँसने का प्रयास कीजिए। हो सकता है प्रारम्भ में आप इसमें असुविधा का अनुभव करें लेकिन

धीरे-धीरे आप महसूस करेंगे कि हँसने से उदासी की जगह आपके मन में प्रसन्नता भरती जा रही है। इसकी एक सीधी सी वजह यह है कि हमारे मस्तिष्क में एक समय में एक ही प्रकार के विचार रह सकते हैं। यदि हम अपनी परेशानियों के बारे में सोच रहे हैं तो खुशी का कोई विचार हमारे दिमाग में नहीं आ सकता और यदि खुश है, हँस रहे हैं तो तमाम दुःख व तकलीफें एकदम दिमाग से गायब हो जायेंगी। इसलिए अपनी विफलताओं और परेशानी पर रोने व खीजने के बजाय हँसने की आदत डालिये। इसीसे आपका मानसिक तनाव दूर होगा और मन हमेशा प्रफुल्लित रहेगा।

हँसी से मन की गांठें खुल जाती हैं। कई मुश्किल उलझनें सुलझ जाती हैं। प्रकृति ने हँसी का यह अनूठा उपहार प्राणी-जगत में मात्र मनुष्य को दिया है। आदमी का कर्तव्य है कि इस अनमोल खजाने का लाभ उठाए। यह एक ऐसा खजाना है जो लुटाने से भी कम नहीं होता। ठहाके लगाना और हँसना एक कला है। साथ ही यह एक सम्पूर्ण व्यायाम भी है जो हमको स्वस्थ व दीर्घायु बनाता है। सामाजिक रूप से हमारी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता में वृद्धि करता है। हँसना सेहत के लिए एक बिना पैसे का टानिक है। हँसी की लोकप्रियता विदेशों में इस कदर बढ़ती जा रही है कि जगह-जगह 'हँसिये-हँसाइये क्लब' खोले जा रहे हैं। जहां लोग नियमित रूप से अपने सारे दुःख दर्द परेशानियां भूल कर हँसने-हँसाने के लिए इकट्ठा होते हैं और खुल कर ठहाके लगाते हैं।

आप भी जीवन के इस सुन्दरतम् भाव का आनन्द उठाइये। हँसने व ठहाके लगाने की आदत डालिए। फिर आप देखेंगे कि जिन्दगी में दुःखों और तनावों के सिवा और भी कुछ है।

राम ही की चिड़िया राम ही का खेत

एक समय सन्त तुकाराम जी को लोगों ने इतना परेशान किया व दुःख दिया कि वे स्त्री-बच्चों सहित गांव छोड़कर कहीं दूर जाकर अपनी मढ़्या (फूस की झोपड़ी) बनाकर रहने लगे। भगवत प्रेम के भजन वहाँ भी गाया व सुनाया करते थे। उसी से जो भगवान भेजता था, अपना सबका निर्वाह करते थे। चूंकि वे बड़े संत थे, वहाँ अकेले स्थान पर भी भगवान की महिमा सुनने के लिए भक्तों की मंडलियाँ आने लगीं। भगवान की महिमा का गुणगान होने लगा।

कुछ भक्तों ने प्रेमवश होकर श्री संत तुकाराम जी को एक खेत की रखवाली का काम सौंपा ताकि गृहस्थी का काम चलता रहे। संत तुकाराम जी खेत पर जाते और वहाँ भी भगवान का भजन करते रहते उनके साथ का इकतारा भी बजता रहता। एकतारे के साथ प्रभु के चरण कमलों में हार्दिक भावनायें सुन्दर स्वरों में समर्पण करते रहते थे। खेत की रखवाली की तरफ उनका ध्यान भी नहीं जाता था। चिड़ियों के झुंड के झुंड आते और खा-पीकर चले जाते। सन्त तुकाराम जी ने चिड़ियों को कभी नहीं भगाया। वे अपने भजनों में कहा करते—

राम ही की चिड़िया राम ही का खेत। खाओ री चिड़िया भर-भर पेट।

इन भजनों को सुनकर खेत के मालिक को कुछ लोगों ने जाकर भड़का दिया। उन्होंने संत तुकाराम के ऊपर आरोप लगाया कि वह ब्रह्म ज्ञान के पदों को गढ़ कर उपदेश दिया करता है। अपनी प्रतिष्ठा कराने में तथा पैर धुलाने में प्रसन्न होता है। जात-पांत का तनिक भी विचार नहीं करता। मूर्ख लोग उसे ब्रह्म विद्या का आचार्य तथा सतगुरु का पद देते हैं। बहुत अधर्म हो रहा है। यह कहकर संत तुकाराम जी को खेत के मालिक ने अलग कर दिया। खेत उजड़वा देने का आरोप लग गया। फसल के पक जाने पर जब कटाई हुयी तो खेत के मालिक व गांव वाले चकित हो गये, क्योंकि आशा से कई गुना अधिक अनाज उस खेत से पैदा होना पाया गया। खेत का मालिक संत तुकाराम जी के पास दौड़ कर गया और अपनी निठुरता व असभ्य व्यवहार के लिये क्षमायाचना की।

आत्मा, जीवात्मा तथा पुनर्जन्म

का

दार्शनिक विवेचन

श्री दीवान रामचन्द्र

●

भारत की विश्व को सबसे बड़ी देन उसका दार्शनिक साहित्य है। उसके मौलिक सिद्धान्तों पर हिन्दू समाज का सारा ढांचा खड़ा है। आत्मा का अमरत्व तथा जीवात्मा का पुनर्जन्म हिन्दू समाज के व्यवहार की रीढ़ है। प्रत्येक हिन्दू यह विश्वास करता है कि उसे अपने किए का भोगदंड भोगना पड़ेगा, चाहे इस जन्म में हो या अगले जन्म में। वह अपनी वर्तमान स्थिति पर इसलिए संतोष भी कर लेता है कि यह स्थिति उसके पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। अस्तु भाग्य पर तथा अगले जन्म पर विश्वास हिन्दू समाज का अमिट अंग है। यह विश्वास केवल रूढ़िवादी नहीं वरन् सिद्धान्त व तर्क पर आधारित भी है। अन्य सभी धर्म अगले जन्म पर विश्वास नहीं रखते पर किए का भोग भोगना होगा, पाप पुण्य का फल होगा ही, यह विश्वास सब में है पर होगा कयामत के दिन। पुनर्जन्म का वहाँ अर्थ फिर से स्थूल शरीर को धारण करना है, जिसे वे नहीं मानते पर साथ ही साथ यह सभी मानते हैं कि मरने के बाद मरने वालों की रूहें (Subtle body) विद्यमान रहती हैं। इस विश्वास में तथा भारतीय विश्वास में अंतर केवल सूक्ष्म व स्थूल शरीर का है। मरने के बाद सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व हिन्दू तथा अन्य सभी संप्रदाय एक सा मानते हैं पर अन्य संप्रदायों में यह स्पष्ट नहीं है कि इस जन्म में जीव की चेतना आई कहाँ से ? इसका उत्तर भारतीय दर्शन देता है। यदि यह तर्कों से सिद्ध हो जाए कि जीवात्मा जिसका गुण चेतना (Consciousness) है और यह गुण उसके शरीर का नहीं है। इसका शरीर से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व है तो पुनर्जन्म का प्रश्न स्वयं हल हो जाता है तब प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। जब कोई सत्ता किसी पात्र में बाहर से आती है, वह पुनः किसी वैसे ही दूसरे पात्र में भी आ सकती है। यदि लैंप किसी कमरे को प्रकाशित करता है तो वही लैंप किसी दूसरे कमरे को भी प्रकाशित कर सकता है। अस्तु प्रस्तुत लेख इसी आधार पर केन्द्रित है।

आत्मा क्या है

भारतीय वैशेषिक विचार धारा के अनुसार सृष्टि का नवमा द्रव्य आत्मा है। उस मत से यह सृष्टि नौ स्वतंत्र द्रव्यों से बनी है। जिसमें से आत्मा भी एक स्वतंत्र द्रव्य है।

वैशेषिक दर्शन के नौद्रव्य ये हैं—(१) आत्मा, (२) मन (३) आकाश (४) काल (५) दिक् (६) पृथ्वी (७) जल (८) वायु (९) अग्नि। अंतिम चार द्रव्यों के परमाणु हैं। अन्य द्रव्य केवल सत्ता मात्र हैं। इस विचार धारा में आत्मा वह द्रव्य है जिसमें चेतना रहती है, पर यह गुण ऐसा नहीं जो उससे पृथक न किया जा सके। सांख्य-योग विचार धारा के अनुसार आत्मा स्वयं एक स्वप्रकाश रचानुभूत एक सत्ता है, वह अन्य किसी द्रव्य का गुण नहीं है। यह सृष्टि दो ही तत्त्व से बनी है (१) चेतन (२) जड़। आत्मा चेतन है और जड़ प्रकृति है। जड़ व चेतन का विशिष्ट संबंध ही जीवात्मा है। ऐसी जीवात्माओं की सांख्य-दर्शन में संज्ञा पुरुष है। ऐसे पुरुष असंख्य हैं। वेदान्त तथा उपनिषद् कहते हैं कि आत्मा एक सर्वव्यास चेतना है, और जगत् माया है। माया कहो या प्रकृति, भाव एक ही है। उपर्युक्त सभी मतों में केवल आत्मा की उपाधि का अंतर है। सारांश यह है कि आत्मा एक स्वतंत्र सत्ता है जिसका गुण चेतना है। उसका जब क्रिया विशेष से जड़-प्रकृति से संबंध हो जाता है तो परिणाम से वह जीवात्मा हो जाता है। चेतन एक गुण है जिसका प्रादुर्भाव किसी

पात्र में होता है, वह पात्र प्रकृति है। इस जगत् में चेतना प्रकट होने की प्रक्रिया चार प्रकार की है। अण्डज, उधिज, स्वेदज, जरापुज। सत-रज-तम प्रकृति के गुण हैं जिनकी विषमता से उसमें बुद्धि, अहंकार, पंचतंमात्राएँ, मन, ज्ञानेनिय कर्मेन्द्रिय पैदा हो जाती है। अस्तु आत्मा की चेतना का कार्य इन प्रकृति के गुणों के सामंजस्य से दीख पड़ रहा है। विश्व में ऐसी इकाइयाँ असंख्य हैं। इन इकाइयों में स्थूल देहधारी जीवात्माओं में मनुष्य एक सर्वोत्कृष्ट श्रेणी है।

विश्व में ताप एक सर्वव्याप्त सत्ता है पर जब उसका संबंध किसी विशिष्ट स्थिति में किसी ज्वलनशील पदार्थ से हो जाता है तो वह सर्वव्याप्त तेज अग्नि के रूप में एक देशीय होकर प्रकट हो जाती है और जब तक ज्वलनशील पदार्थ शेष नहीं हो जाता अग्नि उसमें बनी रहती है। इसी प्रकार जब तक जीवात्मा में वासनाएँ व इच्छाएं समाप्त नहीं हो जातीं तब तक आत्मा जीवात्मा के रूप में, एक इकाई के रूप में बनी रहती है। यही आवागमन का कारण है। जब तक किसी जीवात्मा की इकाई में प्रकृति के गुणों की विषमता बनी रहती है वह इकाई बनी रहती है। गुणों की साम्यता में मूल प्रकृति में प्रकृति तथा विश्व की आत्मा में जीवात्मा का चेतन गुण विलीन हो जाता है। तब उस इकाई के दोनों द्रव्य अर्थात् जड़ और चेतन अपनी मूल अवस्था में परिणत हो जाते हैं। समुद्र में जब लोटे का जल चला जाता है तो वह जल भी समुद्र हो जाता है, उसका अलग अस्तित्व नहीं रह जाता। यही है जीवात्माओं की मुक्ति।

चार्वाक आदि भौतिकवादियों का कथन चेतना शरीर का ही गुण है।

इनका कहना है कि चेतना का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह शरीर की ही विशिष्ट अवस्था है जैसे अंगूर के रस में रासायनिक क्रिया से उसमें स्वतः मादकता आ जाती है उसी प्रकार भ्रूण में अवस्था विशेष में चेतना आ जाती है। दो पदार्थों के संमिश्रण से रासायनिक प्रभाव से उसमें स्वतः एक नया गुण पैदा हो जाता है जो पहले दोनों में नहीं रहता है। यह रसायन शास्त्र का सिद्धान्त है। उत्तर यह है कि जब सम्मिश्रण से कोई नया गुण दीख पड़ता है तो वह जब तक सम्मिश्रण है उससे अलग नहीं होता। उदाहरण से स्पष्ट है कि अंगूर के रस में मादकता सदा बनी रहती है जब तक वह शराब है। इसलिए जब किसी परिस्थिति या अवस्था में भ्रूण में चेतना आ गई तो भ्रूण से बाहर आने पर भी उसमें चेतना रही तो उसे शरीर को जब तक शरीर है नहीं छोड़ना चाहिए। शरीर के सब अवयव ठीक रहते हुए भी उसमें से अकस्मात् चेतना चली जाती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। सभी उदाहरणार्थ भौतिक पदार्थों का एक अनिवार्य गुण रंग है। कोई पदार्थ रंग बिना नहीं रह सकता। इसलिए यदि शरीर का गुण चेतना होती तो उसे कभी नहीं छोड़ती पर देखा गया है कि एक बार जब शरीर से चेतना चली जाती है तो वह पुनः उत्पन्न होते नहीं दीख पड़ती। जिस पदार्थ का कोई गुण अनिवार्य होता है वह वह वस्तु होते कभी नहीं जाता। यदि जाता है तो वह आकस्मिक गुण है। किसी वस्तु को दागना हो तो उसे तपे लोहे से दागते हैं पर भ्रम से कहा जाता है कि लोहे ने दागा। वास्तव में अग्नि दागती है लोहे के माध्यम से, इसी प्रकार जीवात्मा की प्रक्रिया जड़ शरीर द्वारा होती है। यहाँ अग्नि लोहे का आकस्मिक (आया हुआ) गुण है, अनिवार्य गुण नहीं। अस्तु यहाँ मादकता का उदाहरण अनुपयुक्त है।

भौतिकी कहेंगे कि किसी वस्तु में परिवर्तन बाहरी शक्ति से भी हो जाता है। चाँदी ताप के प्रभाव से गल जाती है। उसका रूपान्तर हो जाता है। इसी प्रकार यह क्यों न मान लिया जाए कि किसी बाहरी प्रभाव से शरीर की परिवर्तित अवस्था जीवात्मा है। बाहरी शक्ति का जब प्रभाव चला जाता है तो शरीर पुनः अपनी पूर्व अवस्था में आ जाता है। यह भौतिकी सिद्धान्त है। इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति की चेतना शरीर से भिन्न अपने अस्तित्व की चेतना है। जीवात्मा अनुभव करती है कि यह शरीर उसका है न कि वह स्वयं शरीर है। अस्तु शरीर का भान तथा स्वअस्तित्व का भान ये दो पृथक बातें हैं। चूंकि शरीर का भान अहं अपने अस्तित्व के भान से भिन्न है इसलिए शरीर की किसी भी परिवर्तित अवस्था से ये दो प्रकार का अनुभव एक नहीं हो सकता। किसी कमरे में यदि कोई प्रकाश दीख पड़े तो यही मानना पड़ेगा कि वह बाहर आई कोई शक्ति है न कि कमरे की ही विशिष्ट अवस्था है।

शरीर गर्भ में पला हुआ एक पिंड है। भौतिकी लोग कहेंगे कि भ्रूण की परिपाक अवस्था ही जीवात्मा है जिसमें गर्भ धारण करने वाले शरीर से उसमें उसकी ही चेतना प्रसारित हो जाती है। पर यह तो चेतना आने की प्रक्रिया या माध्यम मात्र हुआ। प्रश्न प्रक्रिया का नहीं वरन् गुण या शरीर से पृथक् शक्ति का है।

भौतिकी कहेंगे कि जहाँ शरीर रहता है वहीं चेतना देखी गई है अर्थात् शरीर से भिन्न कहीं चेतना नहीं पाई जाती। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि चक्षु के रहते ही प्रकाश की विद्यमानता है, जहाँ चक्षु नहीं वहाँ प्रकाश नहीं है। इसका साधारण उत्तर यही है कि प्रकाश एक सत्ता है जिसकी अनुभूति चक्षु द्वारा होती है। चक्षु रहे या न रहे प्रकाश तो एक स्वतंत्र सत्ता रहेगी ही। शरीर चेतना का पात्र या माध्यम मात्र है। उसमें चेतना रहती भी है और नहीं भी रहती। शरीर में चेतना के कार्य दृष्टिगोचर होते हैं। भौतिकी यह कैसे कह सकते हैं कि जिस पंच भौतिक शरीर की चर्चा करते हैं उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के शरीर की विद्यमानता है ही नहीं।

भौतिकी कहेंगे चेतना व अनुभूति मस्तिष्क की देन है और मस्तिष्क विकृति पर स्मृति, इच्छा, संवेदना का लोप हो जाता है। इसलिए इस प्रक्रिया में, चेतना को कारण मानना अनुपयुक्त है तो उत्तर यही होगा कि मस्तिष्क शरीर का एक अंग है, जो गुण अंगी में नहीं वह अंग में कैसे हो सकता है। मस्तिष्कवाद का अर्थ इतना ही है कि जीवात्मा की चेतना मस्तिष्क के माध्यम से प्रकट होती है। पर इतना ही नहीं, जब तक मन न हो, किसी दृष्य पदार्थ का मस्तिष्क में प्रवेश नहीं होता। मन जब किसी विषय पर प्रवृत्त होगा तभी मस्तिष्क में विषय संग्रहीत होगा। मन के अधीन ध्यान है और ध्यान से वस्तुओं का ज्ञान होता है तब वह ज्ञान मस्तिष्क में संग्रह होता है। चूँकि मन आत्मा नहीं है और न वह शरीर का गुण है इसलिए मस्तिष्क भी मन के आधीन शरीर का एक अंग मात्र है। मस्तिष्क एक विषय के संस्कारों का संग्रहीता यंत्र है जिसमें ग्रहीत विषयों का संचय होता रहता है। संचय करने वाला मन के माध्यम से विषय को संचय करता रहता है। फोटो कैमरा के प्लेट द्वारा उतरी फोटो भले नष्ट हो जाय या विकृत हो जाय पर फोटो उतारने वाले (जीवात्मा) में उसका संस्कार बना रहता है कि अमुक स्थान की फोटो ऐसी थी, भले ही उसका विवरण पूरी तरह याद न हो। जब कोई व्यक्ति उस फोटोग्राफर के सामने उपस्थित होता है तो फोटोग्राफर कह बैठता है कि आप वही है जिसकी फोटो हमने खींची थी। किसी भी घटना की स्मृति उस प्रसंग से जागती है, जब वह विषय सामने प्रकट होता है। भौतिकी कहेंगे कि आत्मा नित्य है तो जन्म-जन्मान्तर में उसके अनुभव तथा पिछले जन्म की घटनाएँ उसे स्मरण क्यों नहीं रहतीं। स्मृति के कारणों की अनुपलब्धि से स्मृति सोयी रहती है। पूर्वजन्म में जिस प्रसंग में कोई घटना होती है दूसरे जन्म में भिन्न परिवार व स्थान व भिन्न शरीर होने से उसकी अनुपलब्धि रहती है। पर संस्कार बने रहते हैं। ऐसा देखा गया है कि कभी कभी किसी स्थान विशेष या पुरुष विशेष को देखकर उसके प्रति आकर्षण अनायास हो जाता है। हमारे एक संबंधी का कहना है कि वे जब लंदन गए तो वहाँ की एक सड़क व उस सड़क के मकान को देखकर उन्हें ऐसा महसूस होने लगा कि वह जगह व मकान उनका पहचाना हुआ है।

जीवन की सबसे संवेदनशील घटना मृत्यु है। जिनकी मृत्यु किसी दुर्घटना से हो जाती है या क्रूरता से मारे जाते हैं तो वह संस्कार उस जीवात्मा में अमिट हो जाता है और देखा गया है कि ऐसे सस्कारों से बच्चों में पूर्वजन्म की उस घटना की स्मृति जागृत हो जाती है।

योग सूत्र में पूर्वजन्मों की स्मृति का उपाय (साधना) लिखा है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा कि मैं अपने जन्म-जन्मांतर का विवरण जानता हूँ, तुम नहीं जानते। पृथ्वी पर असंख्य मनुष्यों का जन्म और मरण हो रहा है पर पूर्वजन्म की स्मृति के जो उदाहरण उपस्थित हो रहे हैं वे नगण्य है। प्रायः सभी पूर्वजन्म में दुर्घटना ग्रस्त व्यक्तियों के हैं।

भौतिकी कहेंगे कि मनुष्य (जीवात्मा की एक सर्वोत्कृष्ट श्रेणी) में उसकी स्मृति शरीर के कीटाणुओं द्वारा मस्तिष्क में संचित होती रहती है। यह इसलिए संभव नहीं कि बालकाल का अनुभव वृद्धावस्था में भी स्मृति द्वारा बना रहता है। हर व्यक्ति वृद्धावस्था में अपने को बालकाल का ही अनुभव करता है। इतने दिनों के बीच उसके

शरीर के पूर्व कीटाणु पूर्णतः नष्ट हो चुके होते हैं, उनके स्थान पर नए कीटाणु बन जाते हैं। यदि यह कहा जाए कि बालकाल के कीटाणु क्रमशः नए कीटाणुओं को अपना संस्कार देते रहते हैं तो यह भी संभव नहीं क्योंकि शरीर कीटाणुओं का समुच्चय नहीं है। अर्थात् मानव शरीर केवल पंचतत्त्व का तथा अणुओं और कीटाणुओं का समुच्चय एक पिंड नहीं है। वह सांघातिक पूर्ण पिण्ड है। वह हर समय नया है, उसमें नए और पुराने संस्कार हर समय जीवात्मा द्वारा संचित होते रहते हैं। अस्तु संस्कारों का संचय जीवात्मा करती है।

भौतिकी प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि देह की उत्पत्ति के पूर्व चेतना का अभाव और देह की उत्पत्ति के पश्चात् चैतन्योत्पत्ति होती है। उनका यह कथन भी प्रत्यक्ष प्रमाण से असिद्ध है। देह के विनाश से चेतना का विनाश होता है यह प्रमाणित नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं की उत्पत्ति व विनाश का साक्षी वह स्वयं (द्रष्टा) नहीं हो सकता। यह दोनों अवस्था साक्षी सापेक्ष हैं। द्रष्टा रूप साक्षी के अभाव में कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं हो सकता। चेतन की उत्पत्ति के पूर्व और चेतन समाप्ति के उपरान्त कौन चेतन व्यक्ति प्रमाण दे सकता है कि वह पहले में नहीं था और बाद में नहीं है। भौतिकी कह सकते हैं कि विदेहावस्था में चैतन्य के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है तो यह भी कहा जा सकता है कि न अस्तित्व (अभाव) का भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं।

चैतन्य (आत्मा) और जड़ (देह) में आपस में इतनी अधिक विजातीयता परस्पर विरोधी देखी जाती है कि वहाँ कार्य कारण भाव की कल्पना असंगत हो जाती है। शरीर का कारण चेतना है या चेतना के कारण शरीर है ये दोनों बातें प्रत्यक्ष प्रमाण में संदिग्ध हैं। यदि शरीर कारण है और चेतना उसका कार्य तो कारण में चेतना के अभाव के कारण शरीर में चेतना का भी अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि कारण में जिस गुण का अभाव होता है उसका कार्य में भी अभाव होता है। अतएव ज्ञान रहित उपादान कारण से रहित निर्मित शरीर कभी चैतन्यवान हो नहीं सकता।

उपर्लिखित तर्क से सिद्ध है कि चेतना शरीर का गुण नहीं। वह एक स्वतंत्र सत्ता आत्मा है जो प्रकृति के सापेक्ष से असंख्य जीवात्मा में परिणत होता दीख पड़ता है, और असंख्य वासनाओं के कारण वह जन्म-जन्मान्तर के चक्र में बँधा आवागमन का चक्कर काट रहा है। यही सृष्टि है। वासना रहित जीवात्मा की इकाई आवागमन से छूट जाती है। जीवात्मा के मनुष्य जन्म का उद्देश्य भोग तथा मुक्ति साधन है जहाँ दुखों की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।

●

संत न छाँड़े संतई

कोढ़ का एक दुःसाध्य रोगी था। वह बड़ा ही हठी और नास्तिक था। उसके तमाम अंगों में कोढ़ फूट रहा था। एक बार प्रसिद्ध सन्त फ्रांसिस उसके पास गये, तो वह उनको गाली देने लगा। क्योंकि, उस ओर से निकलने वाले सभी उसे गालियां देते और नाक दबाकर घृणा से मुँह फेर लेते थे। इसलिये उसकी धारणा हो गयी थी कि सब के सब मुझसे घृणा करने वाले हो हैं।

सन्त फ्रांसिस उसको गाली की परवाह किये बिना ही आगे बढ़ते गये और उसके पास पहुँचकर अत्यन्त विनम्र वाणी से बोले, "भैया, तुम मुझे चाहे गाली दो या मारो पर मैं तुम्हारे पास अवश्य आऊँगा। तुम्हारे घाव धोऊंगा, उन पर पट्टियां बांधूंगा और तुम्हारी हर तरह से सेवा करूँगा।" संत फ्रांसिस की वाणी का कोढ़ी पर अत्यन्त शीतल प्रभाव पड़ा। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। सान्त्वना मिली। संत ने उसकी सेवा करके उसके जीवन को सुखी बना दिया।

●

सत्य एक : रूप अनेक

श्री पुष राज

•

"प्रवचन सार" में सच्चे श्रमण की परिभाषा करते हुए कुंदकुंदाचार्य कहते हैं "जिसने कषायों को जीत लिया है, जिसकी इंद्रियां नियंत्रित हैं, जो श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र में एक साथ प्रयत्नशील है, पदार्थों में जिसे राग, द्वेष या मोह नहीं है, जो शत्रु-मित्र में, सुख-दुख में, निंदा-प्रशंसा में, मिट्टी के ढेले और कंचन में तथा जीवन और मरण में समबुद्धि वाला होता है, वह सच्चा श्रमण कहलाता है।" गीता के स्थितप्रज्ञ और "प्रवचनसार" के "श्रमण" में कहाँ अन्तर है, यह बतलाना काफी मुश्किल काम होगा।

कुंदकुंदाचार्य कोई आधुनिक मुनि या आचार्य नहीं थे। उन्होंने सर्वधर्म सम्मेलन का भी कोई भार अपने कंधों पर नहीं उठा रखा था। जैन परंपरा कुंदकुंदाचार्य को बहुत अधिक मान देती है। शास्त्र वाचन आरम्भ करने से पूर्व पढ़े जाने वाले मंगलाचरण में आचार्य कुंदकुंद को भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ स्मरण किया जाता है। उनके "पंचास्तिकाय", "प्रवचनसार" और "समयसार" "प्राभृतत्रय" को "प्रस्थान त्रय" जैसा सम्मान-प्राप्त है। उनके काल के बारे में तरह-तरह की अटकलें लगाने के बाद विद्वान् ईस्वी सन् के आरम्भ में उनकी स्थिति को स्वीकार करते हैं। जैन मूर्ति-पूजा में विश्वास रखते हैं। उनके सिद्धांत के अनुसार वीतराग मूर्ति के दर्शन द्वारा परमात्मा के गुणों का ध्यान करना और उनके समान सद्गुणी बनने की इच्छा करना ही आत्मोन्नति का मूल साधन है। यद्यपि वीतराग भगवान निरालंब शुद्ध आत्मस्वरूप हैं परंतु घर-गृहस्थी में फंसे लोगों का निरालंब रूप में ध्यान न लगने के कारण जैन-धर्म में वीतराग-स्वरूप का मूर्ति में संकल्प कर परमात्मा की पूजा की व्यवस्था की गई है। जैनों द्वारा मूर्ति-पूजा के पीछे दिए इस तर्क से किसी भी सनातनी हिन्दू को ईर्ष्या हो सकती है।

आमतौर पर जैनों एवं बौद्धों को वेद-विरोधी करार दिया जाता है। परंतु इन लोगों का वेदों से उतना ही विरोध था जितना शंकराचार्य, भगवद्गीता या नैयायिकों का। दसवीं शताब्दी के सोमदेवसूरि को वेद एवं स्मृतियों के प्रमाण मानने में कोई एतराज नहीं था। सोमदेव से एक सौ वर्ष पहले के आचार्य जिनसेन सभी वैदिक नियमोपनियम मानते थे। सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू में तो जातियों एवं उनकी क्रियाओं को अनादि मान कर जाति-व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। आज भी जैन लोग उसी तरह जातीय-समाज में बंधे हैं जिस तरह अन्य भारतीय समाज।

जैन मंदिरों एवं घरों में पढ़ी जाने वाली स्तुतियों में वेदों और पुराणों को "सत् शास्त्र" के रूप में स्मरण किया जाता है। भक्ति स्तोत्रों में सर्वज्ञदेव की उसी तरह स्तुति मिलती है जैसी भगवद्गीता में श्रीकृष्ण की। श्री मानतुंगाचार्य देव विरचित आदिनाथ स्तोत्र या भक्तामर स्तोत्र में सर्वज्ञदेव को अव्यय, विभु, अचिन्त्य, असंख्य, आदिपुरुष, ब्रह्मा, ईश्वर, योगीश्वर, विदितयोग, आदि विशेषणों द्वारा वर्णित किया गया है। देवों, गणधरों एवं विद्वज्जनों द्वारा पूजे जाने के कारण उन्हें बुद्ध, तीनों लोकों में सुख-शांति देने के कारण शंकर, मोक्षमार्ग की विधि एवं मोक्षरूपी सृष्टि करने के कारण ब्रह्मा एवं विष्णु कहा गया है।

सभी दिगंबर या श्वेताम्बर जैन इस भक्तामर स्तोत्र द्वारा प्रतिदिन परमात्मा की स्तुति, भक्ति एवं आराधना करते हैं। निष्काम भक्ति की भावना निहित होने के कारण तत्वज्ञानी भी इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। विद्वान् लोग मानतुंग कवि को हर्षवर्धन का समकालीन मानते हुए उनका काल ईसा की सातवीं शताब्दी तय करते हैं।

जैन आगमों में भक्ति के महत्त्व को स्वीकारा गया है। सर्वार्थसिद्धि, नियमसार गाथा, समयसार तात्पर्य वृत्ति टीका

के अनुसार अर्हदादि के गुणों में प्रेम करना ही भक्ति है। जैनों की भक्ति की यह परिभाषा "परानुरक्तिः ईश्वरे" से किसी तरह अलग नहीं है। भक्ति ही नहीं साधना-मार्ग में भी वैदिक-अवैदिक विभाजन नहीं किया जा सकता। जैन तीर्थंकरों के नाम से परिचय देने वाले नीमनाथी एवं पारसनाथी संप्रदाय कब नाथ संप्रदाय में अंतर्भुक्त हो गए यह साधना-साहित्य के अध्येताओं के लिए कुतूहल का विषय है।

भारतीय दर्शनों एवं धर्मों की परंपराएं एक दूसरे से इतना अधिक प्रभावित होती रही हैं कि उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में बँटा दिखलाना एक असंभव काम है। आदिशंकराचार्य ने यद्यपि जैनों एवं बौद्धों का पुरजोर खंडन किया, परन्तु भगवद्गीता का भाष्य लिखते समय उनके निवृत्ति मार्ग की सबसे ज्यादा वकालत की। इसी तरह जैनों एवं बौद्धों के वेद विरोधी स्वरूप का चाहे जितना अधिक प्रचार क्यों न कर दिया गया हो, अपने सिद्धांतों एवं आचरण में वे कभी भी भारतीय मूलधारा से नहीं कटे।

जैन धर्म में मनुष्य-भव का बड़ा महत्त्व है। तीर्थंकरों के प्रवचन के लिए समवशरण (सभा-मंडप) की रचना करने वाले देवराज इंद्र को भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य के रूप में जन्म लेना आवश्यक है। इन्सान की इन्सान के रूप में पहचान समूचे भारतीय चिंतन की अद्भुत विरासत है। तीनों लोकों के राज के बजाय यमराज से नचिकेता ने इसी विरासत की कामना की थी। तमाम दौलत को दरकिनार कर मैत्रेयी भी याज्ञवल्क्य से यही विरासत हासिल करना चाहती थीं। इसी को पाने के लिए सिद्धार्थ ने राजपाट छोड़ कर जोगिया बाना पहना था।

भारत के सभी पंथ और संप्रदाय इस मूल भारतीय दृष्टि से ओत प्रोत हैं। एक ही सत्य को कई तरह से देखा जरूर गया है। लेकिन सत्य की बुनियादी समझ में कोई अन्तर नहीं है। इसी अर्थ में ज्ञानी जैलसिंह की टिप्पणी सार्थक है कि भारत के सभी पंथ और संप्रदाय सनातन धर्म की विभिन्न धाराएं हैं। धाराओं के रूप में यह अनेकता रही है और रहेगी। यह सृष्टि बहुलता में ही प्रकट होती है और उसके इस मूल प्रभाव को समझकर ही हमने अपने विचारों, संस्थाओं और पुरुषार्थों का ढांचा बनाया है। लेकिन इस बहुलता में कोई मौलिक बंटवारा और टकराव नहीं देखने लगना चाहिए। भारत में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग रहेंगे। वैसे ही वेदांती, शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध और सिख भी रहेंगे। लेकिन इनमें ब्राह्मण और अब्राह्मण की कोटियाँ बनाना, आस्तिक और नास्तिक का भेद खड़ा करना और उन्हें हिन्दुओं-अहिन्दुओं की बनावटी कोटियों में बांटना गलत ही नहीं खतरनाक भी है।

●

त्याग

महात्माओं, विद्वानों, तपस्वियों को इस पुण्य भूमि में आद्य शंकराचार्य ऐसे ही प्रतिभापूर्ण व्यक्ति हुये हैं, जिनकी समता का दूसरा धर्म प्रचारक मिलना कठिन है।

शंकराचार्य की बुद्धि बचपन से ही अलौकिक थी। विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद वे घर पर विद्यार्थियों को पढ़ाते थे, जिसके कारण कुछ ही दिनों में इनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई।

जब केरल के राजा ने इनकी ख्याति सुनी तो उन्हें अपने दरबार का पंडित बनाने का निश्चय किया। उसने शंकराचार्य को बुलाने के लिए अपने मंत्री को भेजा। शंकराचार्य वहां नहीं गये। उन्होंने कहा कि मैं राजदरबार का पंडित होकर सम्मानित नहीं होना चाहता बल्कि धनहीन रहकर ही लोगों को धर्मोपदेश देना चाहता हूँ।

राजा को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई और वे स्वयं शंकराचार्य के घर पहुँचे। उन्होंने एक हजार अशरफियाँ उन्हें भेंट की और स्वरचित तीन नाटक दिखाये। शंकराचार्य ने उन नाटकों को देखकर प्रसन्नता प्रकट की किन्तु अशरफियों को लेना स्वीकार नहीं किया।

राजा घर लौट गये और मन ही मन शंकराचार्य की प्रशंसा करते रहे।

●

इतनी संवेदनशीलता क्यों ?

श्री ईथेल एच. बैरन

•

अतिसंवेदनशील व्यक्ति अपने-आपमें सदा एक प्रकार की कमी अनुभव करने के कारण प्रत्येक परिस्थिति को अन्धकार-मय ही देखता है। चूंकि उसका ध्यान हमेशा इसी बात पर लगा रहता है कि, कोई कहीं उसका अपमान तो नहीं कर रहा है—वह यही सोचता रहता है कि, अमुक व्यक्ति ने ऐसा क्यों कहा ? वह कहीं मुझपर हँस तो नहीं रहा था ?

प्रख्यात मानवशास्त्री डा० कारेन होनी के मतानुसार यह एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो अपने भीतर का भाव दूसरों पर लादना चाहती है। कुछ परिस्थितियाँ अवश्य ऐसी हो सकती हैं, जब सामने के व्यक्ति में अवहेलना या तिरस्कार की भावना मौजूद हो; लेकिन अधिकतया बिना किसी वास्तविक कारण के ही, अत्यधिक संवेदनशील व्यक्ति अपने मन का भाव दूसरे के साथ जोड़कर, कल्पना में ही अपना अपमान मान बैठता है और दूसरों पर व्यर्थ ही दोषारोपण करता है। इसका कारण यह है कि, ऐसा व्यक्ति अत्यधिक सम्मान का भूखा होता है। जब उसे कोई विशेष रूप से नहीं पूछता, तो वह अपना तिरस्कार हुआ समझता है।

वास्तव में इससे उसके मिथ्या गर्व को आघात लगता है और वह दुखी होता है। लेकिन यह समझना चाहिए कि, संसार में सभी लोग अपनी उधेड़बुन में व्यस्त रहते हैं। उन्हें अपनी ही चिंता या कार्यों से इतनी फुर्सत नहीं कि, वे सबके साथ आदर या विनय को व्यवहार कर सकें। हो सकता है कि, जिसने आपकी भावना को आघात पहुँचाया हो, वह स्वयं त्रस्त हो और उसके इस 'रूखे' व्यवहार का कारण आपके प्रति दुर्भावना या तिरस्कार न हो !

एक बार किसी बैंक का एक क्लर्क एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के साथ कुछ अभद्रता का व्यवहार कर बैठा। उसने जाकर बैंक के मैनेजर से शिकायत कर दी। चूंकि उसका लेन-देन बैंक से काफी बड़े पैमाने पर था, मैनेजर ने क्लर्क को बुला कर डाँटा। लेकिन उसके रूखे व्यवहार का कारण क्या था, यह जानने की चेष्टा किसी ने नहीं की। वह तो तब विदित हुआ, जब उक्त क्लर्क ने कुछ दिनों बाद आत्महत्या कर ली। मरते समय वह एक 'नोट' लिखकर छोड़ गया था—"अपनी अस्वस्थता और असमर्थता से तंग आकर मैं आत्महत्या कर रहा हूँ !"

इसलिए जब कभी आप यह सोचें—अमुक व्यक्ति ने मेरी अवहेलना की, तो आप अपने मन को भी टटोलें कि, उस भावना का कितना अंश स्वयं आपके मस्तिष्क की उपज है। फिर इस काल्पनिक अंश से स्वयं को मुक्त करने का प्रयास कीजिये।

आपके लिए अपनी अच्छाइयों पर ध्यान देना भी बहुत जरूरी है। यदि आप अपनी खामियों के बजाय अपनी खूबियों की ओर ध्यान देना शुरु करें, तो सहज ही कोई आपके दिल को दुखा न सकेगा। दूसरा तरीका यह है कि, जो भी गुण आपमें स्वाभाविक रूप से वर्तमान हो—जिस कार्य की ओर आपकी रुचि हो— उसका विकास कीजिये। इससे आपको आनन्द तो मिलेगा ही, साथ-ही-साथ मानसिक बल की भी वृद्धि होगी।

एक उपाय और भी है। आप लोगों के साथ दिल खोल कर मिलिये। साधारणतया अत्यन्त भावुक व्यक्ति अपनी मांद में छुपे रहना पसन्द करते हैं; लेकिन वे दूसरों के साथ मिले-जुलें, जलसों और सभा-सोसाइटियों में आयें-जायें, तो उनकी हिचक दूर हो जायेगी और तब वे देखेंगे कि, लोग उनसे मिलकर और वे लोगों से मिलकर कितने खुश होते हैं !

सहज ही बुरा मान बैठने की आदत अच्छी नहीं। यदि किसी ने आपका जानबूझ कर भी अपमान किया हो, तो आप उस व्यक्ति की बात पर अधिक विचार मत कीजिये। अपने मन को कष्ट पहुँचा कर, व्यर्थ ही आप उसे या उसकी बात को महत्व क्यों देते हैं ? अपने मन को थोड़ा मजबूत बनाइये।

आप स्वयं दूसरों का तिरस्कार न कीजिये। सामान्यतया यह देखा गया है कि, जो लोग सहज ही बुरा मान जाते हैं, वे हमेशा एक ऐसा रुख बनाये रखते हैं, जिससे दूसरे लोग बुरा मान जाते हैं। ऐसा वे इसीलिए करते हैं कि, लोग उनकी उपेक्षा या अनादर करें, इससे पहले ही वे यह बता दें कि, उनको किसी की परवाह नहीं है। उनके इस रुख या व्यवहार से जो भी उनके सम्पर्क में आता है, वह उन्हें घमण्डी समझ कर बदले में उनका तिरस्कार करता है। इससे अत्यधिक संवेदनशील पुरुष और भी आहत होते हैं और अपने मन में सदा यही सोचा करते हैं कि, सारा संसार ही उनकी उपेक्षा करने पर तुला हुआ है।

आलोचना लाभदायक भी हो सकती है। प्रत्येक आलोचना से चिढ़ना नहीं चाहिए। हो सकता है कि आलोचक की दृष्टि में आपके कुछ ऐसे दोष या त्रुटियां खटकती हैं; जिन्हें आप स्वयं नहीं देख सकते। बुरा मानने के बजाय यदि आप शान्ति से अपनी आलोचना पर विचार करें, तो आप अपनी बहुत-सी बुराइयाँ या खामियाँ दूर कर सकते हैं।

अगर आप अपना जीवन वस्तुतः आनन्दमय बनाना चाहते हैं, तो एक काम आपको और करना होगा। श्रद्धा का साथ कभी मत छोड़िये। यदि आप ईश्वर या किसी दैवी शक्ति में विश्वास करते हैं, तो आपकी श्रद्धा उस पर अटूट होनी चाहिए। ऐसी अवस्था में, आप किसी की भी बात या हँसी की परवाह नहीं कीजिये। लोग चाहे आपकी अवहेलना, तिरस्कार या निरादर करें, फिर भी आप अपनी श्रद्धा का सहारा ले अपने पथ पर सदैव आगे बढ़ते रहिये।

साथ ही, अपने आदर्श उच्च रखिये; लेकिन 'अम्बर के तारे' तोड़ने की भी मत सोचिये। अत्यधिक संवेनशील व्यक्ति सामान्यतया इतनी ऊँची उड़ान भरना चाहते हैं कि, वहाँ तक पहुँचने की उनकी सामर्थ्य ही नहीं होती। यह आप निश्चित जान रखिये— भावुकता से कोई व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। धीरे-धीरे इससे दूर होने की आदत अपने-आपमें डालिये। अगर आप तुनक-मिजाजी या सहज ही बुरा मानने की आदत से छुटकारा पा जायें, तो संसार आपके लिए इतना नैराश्यपूर्ण नहीं रहेगा। और, तब आप जीवन का पूरा-पूरा आनन्द उठा सकेंगे! ●

पहचान

एक राजा थे। वे शिकार खेलने के लिए जंगल में निकले। रास्ते में उन्हें प्यास लगी। रुककर आस-पास नजर दौड़ाई तो थोड़ी दूर पर एक झोपड़ी दिखाई दी।

राजा ने अपने सिपाही को भेजा और एक लोटा जल माँग लाने के लिए कहा। सिपाही वहाँ पहुँचा तो देखा कि एक अन्धा आदमी बैठा है। यह झोपड़ी उसी अन्धे आदमी की थी। सिपाही बोला—"ऐ अन्धे एक लोटा पानी दे दे।"

अन्धा अकड़ू था। उसने तुरन्त जवाब दिया— जा-जा तेरे जैसे सिपाहियों से मैं नहीं डरता। मैं तुम्हें पानी भी नहीं दूँगा।" सिपाही निराश लौट गया।

राजा ने इसके बाद सेनापति को पानी लाने के लिये भेजा। सेनापति अन्धे के करीब जाकर बोला— "अन्धे! क्यों जिद्द करता है, एक लोटा पानी दे दे। तुझे उसका पैसा मिलेगा।"

अन्धा फिर अकड़ कर बोला—"लगता है तुम पहले वाले के सरदार हो। तभी चिकनी-चुपड़ी बातों में लालच भी दे रहे हो। लेकिन सुनलो, मैंने उसे भी बता दिया था कि मैं पानी नहीं दूँगा। तुम फौरन यहाँ से दफा हो जाओ।"

सेनापति को खाली हाथ आते देख राजा स्वयं पानी पीने के लिए चल पड़े। कुटिया के समीप पहुँचकर राजा ने अंधे को प्रणाम किया और कहा— "प्यास से मेरा गला सूख रहा है। एक लोटा जल दे सकें तो कृपा होगी।"

अन्धे ने सत्कारपूर्वक राजा को पास बैठाया और कहा—'आपका व्यवहार श्रेष्ठ राजा के समान है। जल तो क्या, मेरा तन-मन सेवा में हाजिर है। कोई और भी सेवा हो तो बताएँ।"

राजा शीतल जल से अपनी प्यास बुझाए, फिर नम्रता पूर्वक पूछे—'आपको दिखलाई तो पड़ नहीं रहा है, फिर जल माँगने वालों को सिपाही, सरदार और राजा के रूप में कैसे पहचान पाये ?"

अन्धे ने मुस्कराते हुए जवाब दिया—"वाणी के व्यवहार से प्रत्येक व्यक्ति के वास्तविक स्तर की पहचान हो जाया करती है।" ●

काशी मुमुक्षु भवन सभा-समाचार

मार्च, १९८७

स्थायी भण्डारा

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, दाल, साग आदि १५००) रुपये में एक बार।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई आदि ३०००) रुपये में एक बार।

उपर्युक्त राशि के ब्याज से प्रति वर्ष एक दिन।

श्री मामन चन्द गुप्ता, कलकत्ता	कच्चा	६-३-८७
श्रीमती कमला देवी बूबना, जयनगर	पक्का	१०-३-८७
श्रीमती श्यामकली देवी, कलकता	कच्चा	१३-३-८७
श्रीमती सरस्वती देवी, दरभंगा	कच्चा	१४-३-८७
श्रीमती गोदावरी देवी लोहिया, कलकत्ता	कच्चा	१५-३-८७
श्री धानुका चैरिटेबुल ट्रस्ट, गौहाटी	कच्चा	१६-३-८७
स्व० श्री विश्वनाथ अग्रवाल द्वारा एस० आर० अग्रवाल चैरिटेबुल ट्रस्ट, हावड़ा	कच्चा	१९-३-८७
श्री अशोक कुमार केडिया, कलकत्ता	कच्चा	२३-३-८७
श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	कच्चा	२९-३-८७

अस्थायी भण्डारा

ब्रह्मचारी श्री मथुरा प्रसाद शुक्ल, महाराष्ट्र	पक्का समष्टि	३-३-८७
श्री विशाल चौधरी, धनबाद	पक्का	४-३-८७
श्रीमती शान्ति देवी केडिया, मुमुक्षु भवन	,,	७-३-८७
स्व० स्वामी नन्देवानन्द तीर्थ, (षोड़सी) मुमुक्षु भवन	पक्का समष्टि	१ -३-८७
शिष्य स्वामी रामानन्द तीर्थ, मुमुक्षु भवन	कच्चा	२१-३-८७

विशेष सहायता

श्री नारायण राठी, कलकत्ता	१००१)
श्रीमती बनारसी देवी, वैद्यनाथ धाम	११०१)
,, शान्ति देवी गोपालका, कलकत्ता	५०००)

भण्डारा स्थायी कोष

श्री दुर्गादत्त सोमसरिया	१२५१)

जीर्णोद्धार

श्री राधाकृष्ण झुनझुनवाला, मुमुक्षु भवन	५१००)

मुमुक्षु आजीवन सदस्यता

श्री गोकुल दास अग्रवाल,	२५१)
मेसर्स पूर्णिमा तुलसी दास	२५१)

होमियोपैथिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
३५६	१७१०	२०६६

आयुर्वेदिक चिकित्सालय

नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
१५५	१२५३	१४०८

Regd. No. LRN 189 Reg. No. RN. 40196/82 जून १९८७ ई०

काशी मुमुक्षु भवन-सभा

(भारतीय सोसायटी एक्ट संख्या २१ सन् १८६० तथा आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अधीन मान्यताप्राप्त)

पारमार्थिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सेवा-संस्थान

अस्सी, वाराणसी-२२१००५

काशी मुमुक्षु भवन सभा, अस्सी, वाराणसी एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्था है। दीनों, दलितों और दरिद्रनारायण को नित्य प्रातः भोजन वितरित करना तथा संस्था के अन्दर ईश्वर मठ में आवास कर रहे दण्डी स्वामियों को भोजन व दूध की व्यवस्था करना इस संस्था के सेवा-कार्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। मुमुक्षु भवन पाँच एकड़ के विस्तृत भूभाग पर अवस्थित है। इसके अन्दर ईश्वर मठ के अतिरिक्त वेद-वेदाङ्ग महाविद्यालय, छात्रावास एवं तीन मन्दिर हैं, जिनमें प्रातःकालीन एवं सायंकालीन पूजा, अर्चना और आरती के अतिरिक्त प्रवचन और कीर्तन भी होता है। भवन में एक सौ के लगभग आजीवन निवास करनेवाले मुमुक्षु और ब्रह्मचारी तथा ख्यातिलब्ध विद्वान् भी रहते हैं। तीर्थयात्रियों एवं पर्यटकों के आवास की उत्तम व्यवस्था भी उपलब्ध है। हमारे पास लगभग बीस कमरे आवश्यक फर्नीचर के साथ उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फ्लेट भी हैं। हर फ्लेट में तीन कमरे, रसोई, स्नान-घर तथा आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। आजीवन काशीवास की कामना से आये मुमुक्षुओं के आवास की भी उत्तम व्यवस्था है।

काशी के केदारखण्ड में अवस्थित यह भवन अपने शान्तिमय एवं भक्तिरस से सराबोर वातावरण के कारण पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों का आकर्षण केन्द्र है। पर्यटक, तीर्थयात्री एवं मुमुक्षु के रूप में शेष जीवन बिताने की कामना से काशी पधारनेवालों का स्वागत है। संस्था में शुद्ध शाकाहारी भोजन की व्यवस्था है।

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए पुरुषोत्तमदास मोदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा शिव प्रेस, ए. १०/२५, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित